नवभारतीय ग्रंथमाला—१

हिंदू राज्य-तंत्र

दूसरा खंड

श्रीयुक्त काशीप्रसादजी जायसवाल, एम० ए०
बैरिस्टर लिखित Hindu Polity का
हिंदी अनुवाद

अनुवादक
रामचंद्र वर्म्मा
सहायक संपादक हिंदी शब्दसागर

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

पहली बार] श्रावण १९९६ [सादी ३)
जिल्ददार ३॥)

प्रकाशक
नागरीप्रचारिणी सभा
काशी

मुद्रक
श्री अपूर्वकृष्ण बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड;
बनारस-ब्रांच

दो शब्द

"'नवभारतीय ग्रंथमाला" के अंतर्गत "केदारनाथ बाबूलाल राजगढ़िया पुस्तक-माला" का यह पहला पुष्प आज हिंदी जगत् के सामने उपस्थित किया जा रहा है। यह प्रयास कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होगा, इसका निर्णय हिंदी के विज्ञ पाठक ही करेंगे। मैं अपनी ओर से केवल यही निवेदन करना चाहता हूँ कि इसमें मेरा उद्देश्य भारतीय जनता के हित और सेवा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मेरे इस उद्देश्य की सिद्धि ईश्वर के हाथ है।

इस संबंध में मैं यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मुझमें यह प्रवृत्ति एक विशिष्ट महानुभाव की प्रेरणा और प्रोत्साहन से उत्पन्न हुई है। और यदि मैं उस प्रेरणा तथा प्रोत्साहन के संबंध में यहाँ दो शब्द न निवेदन करूँ तो वह केवल अनुचित ही न होगा, बल्कि कदाचित् एक प्रकार की कृतघ्नता की सीमा तक जा पहुँचेगा। इस बात का विचार रखते हुए, आशा है, सुविज्ञ पाठक मेरी यह धृष्टता क्षमा करेंगे।

हो सकता है कि मेरे इस निवेदन से औरों का कोई विशेष लाभ न हो; परंतु स्वयं मेरा लाभ एक प्रकार से निश्चित ही है। क्योंकि जिन महानुभाव का मैं कृतज्ञ हूँ और सदा कृतज्ञ रहूँगा, उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने का यह सुयोग खो बैठना मेरे लिये अच्छा न होगा।

यह तो मैं नहीं कह सकता कि नितांत बाल्य-काल में मुझ पर किन लोगों का और कैसा प्रभाव पड़ा था; परंतु मेरी स्मृति की पहली महत्त्वपूर्ण घटना, जिसने मेरे विचारों और जीवन की धारा बहुत कुछ बदल दी थी, सन् १६१२ में हुई थी। उस समय मेरी अवस्था केवल दस वर्ष की थी। उन दिनों हमारे यहाँ विलायती कपड़ों का काम होता था—हम लोग मैंचेस्टर से कपड़े मँगाते और कलकत्ते में बेचते थे। जिस रास्ते से मैं नित्य मकान आता-जाता था, उसी रास्ते के मोड़ पर हिंदी पुस्तक एजेंसी की दूकान थी। श्रीयुक्त महावीरप्रसादजी पोद्दार ही उसके संस्थापक थे और वही संचालक भी थे। घर आते-जाते मैं एजेंसी की दूकान पर काफी चहल-पहल देखा करता था। मुझे भी किताबें पढ़ने का शौक था। पर वह शौक "तोता-मैना का किस्सा," "हातिम ताई" और "हजार दास्तान" तक ही परिमित था। मैं जानता ही नहीं था कि इनके सिवा पढ़ने की और भी कोई चीज होती है।

किताबें पढ़ने का शौक एक दिन मुझे हिंदी पुस्तक एजेंसी में भी ले गया। शांति की मूर्ति पोद्दार जी वहीं विराजमान थे। दो ही चार बातों में उनके जिस सौजन्य का परिचय मुझे मिला, उससे मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मानों ये मेरे परम आत्मीय हैं। मेरे माँगने पर आपने बहुत सी पुस्तकें मुझे दिखलाईं; पर मुझे उनमें से एक भी ठीक न जँची। अंत में पोद्दार जी ने मुझे स्व० सखाराम गणेश देउस्कर की सुप्रसिद्ध बँगला पुस्तक "देशेर कथा" का "देश की बात" नामक हिंदी अनुवाद देते हुए कहा कि आप इसे योंही ले जाकर पढ़िए। और यदि यह आपको ना-पसंद हो तो मुझे लौटा दीजिएगा। पढ़ने की लत तो मुझे थी ही; फिर इस शर्त्त पर भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी! "देश की बात" पढ़ने पर मुझे पता चला कि "तोता-मैना" के संसार के सिवा कोई और संसार भी है। तब से मैं नित्य हिंदी पुस्तक एजेंसी में जाने लगा और पोद्दार जी के उपदेशों से बहुत कुछ लाभ उठाने लगा।

इसी बीच में युरोप का पहला महायुद्ध आरंभ हुआ और थोड़े ही दिनों बाद कलकत्ते में भगदड़ मची। मुझे देश भेजने की तैयारियाँ होने लगीं। पिताजी ने पुस्तकें खरीदने के लिये मुझे पचास रुपये देने का वादा किया। मैं २ बजे से ही एजेंसी में पहुँचकर किताबें तलाश करने

लगा। "मिस्टिरीज आफ दी कोर्ट आफ लंदन" का हिंदी अनुवाद "लंदन-रहस्य" लेने की मेरी बहुत इच्छा थी। परंतु पोद्दार जी उसके कट्टर विरोधी थे। अंत में मुझे दबना पड़ा और उनका वर्जन शिरोधार्य करना पड़ा। हाँ, उनके उस समय के स्नेहपूर्ण व्यवहार का मुझ पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। मैं और बहुत सी किताबें लेकर देश चला गया।

कुछ दिनों बाद महासमर समाप्त हो गया और पूज्य पिता जी का भी स्वर्गवास हो गया। अब कलकत्ते में मुझे चारों ओर अंधकार ही दिखाई देता था और मैं किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहा था। न तो जीवन का प्रश्न ही और न व्यापार का प्रश्न ही किसी प्रकार सुलझता दिखाई देता था। फिर भी पोद्दार जी के विद्या-मंदिर में आना-जाना मेरा रोज का काम था। नित्य घंटे दो घंटे उनसे बातें होती थीं। वे मानों जन-सेवा और त्याग की साक्षात् मूर्त्ति थे। उनके समान निःस्पृह तथा त्यागी इने-गिने महानुभाव ही मेरे देखने में आए हैं। मुझे धन-संबंधी चिंताओं में मग्न देखकर वे प्रायः मुझसे यही पूछा करते थे कि आप धन का क्या करेंगे? धन की आप क्यों जरूरत समझते हैं? उसके लिये आप क्यों इस तरह पागल और उतावले हो रहे हैं? इसी प्रकार के बहुतेरे प्रश्न वे मुझसे करते थे। उस समय मुझमें मिथ्या तर्क-

शक्ति तो थी ही नहीं जो तरह तरह के उत्तर देकर मैं उन्हें दबा सकता। इसलिये मुझे ही चुप रहना और दबना पड़ता था। धीरे धीरे उनके प्रश्नों ने मेरे जीवन में क्रांति की जबरदस्त आग धधका दी। आज भी उनके वे शब्द मेरे कानों में देव-वाणी की तरह गूँजते हैं। मैं यह तो अभी तक निश्चित नहीं कर सका हूँ कि मेरे लिये धन की आवश्यकता है या नहीं; परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रश्न का निर्णय करने में मेरी सारी शक्ति लगी हुई है कि धन का उपयोग क्या है और कैसे होना चाहिए।

कुछ ही दिनों बाद कुछ पारिवारिक विपत्तियाँ उठ खड़ी हुईं। मैं बहुत ही दुःखी, निराश और उदासीन होकर धर्म-प्रचारक बनने के मन्सूबे बाँधने लगा। परंतु धार्मिक क्षेत्र में काम करनेवालों की पोल देखकर उधर से मेरा मन हट गया। फिर लोक-सेवा का व्रत लेना चाहा। पर उस रास्ते में भी कुछ फूल तो बिछे ही नहीं थे। हाँ, काँटे ही काँटे नजर आते थे। पोद्दार जी को मैं देखता था कि वे चिनियाँ बादाम खाकर ही निर्वाह करते थे। उनका कहना था कि भारतवासियों की औसत आय छः पैसे रोज की है; इसलिये किसी को एक दिन में छः पैसों से अधिक अपने ऊपर नहीं खर्च करना चाहिए।

शांति और अहिंसा की साक्षात् मूर्त्ति महात्मा गांधी भारत आ पहुँचे थे और उनकी अमृतमयी वाणी भी देश

में फैलने लगी थीं। ऐसे ही समय में मैं एक दिन बहुत ही खिन्न भाव से पोद्दार जी के पास बैठा था। उन्होंने मुझसे उस खिन्नता का कारण पूछा। पहले तो मैंने यों ही टालना चाहा; पर उनके स्नेह-पूर्ण आग्रह से मेरी घिग्घी बँध गई और आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। पोद्दार जी के बहुत सांत्वना देने पर मैंने उन्हें घर का कच्चा चिट्ठा कह सुनाया और उन्हें बतला दिया कि घरवालों की दृष्टि में मैं बिलकुल निकम्मा सिद्ध हो चुका हूँ। उस समय भी उनका यही कहना था कि आप धन के पीछे अपनी आत्मा की हत्या न करें। पर मैंने उन्हें बतला दिया कि जब मुझमें न तो त्याग ही है और न कष्ट सहने की शक्ति ही, तब घरवालों की आँखों में ऊँचे होने के लिये मेरे पास धन उपार्जित करने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं है। उनके पूछने पर मैंने उन्हें यह बतला दिया कि मैं भी अपने बड़ों की तरह विलायत से कपड़े मँगाकर बेचूँगा और धन कमाऊँगा। तब तक पोद्दार जी बहुत ही गंभीर हो चुके थे। मेरी बात सुनकर उन्होंने झुँझलाकर कहा—"छिः छिः! क्या इसके सिवा आपको और कोई धंधा नहीं सूझता? क्यों न जमशेद जी ताता की तरह आप भी कोई कारखाना खोलें, जिससे हजारों गरीबों की रोजी भी चले और देश का धन भी विदेश जाने से बचे!" मैंने लज्जित होकर कहा—"भला

मुझमें इतनी शक्ति कहाँ है!" उन्होंने कहा—"नहीं, आपमें भी वह शक्ति है; पर आप उस शक्ति को काम में लाना नहीं जानते। भले ही थोड़े से आरंभ कीजिए, परंतु किसी काम को नीच न समझिए। मनुष्य कोई काम करने से नीच नहीं होता, बल्कि तुच्छ विचार रखने से ही नीच होता है। दक्षिण अफ्रीका में स्वयं गांधी जी अपने हाथ से मैला साफ करते थे। परंतु क्या इससे वे नीच हो गए? नहीं, वे और भी उच्च हुए। आप भी जब तक नीच विचारों का परित्याग न करेंगे और अपना मन उच्च भावनाओं से न भरेंगे, तब तक जीवन में आप कभी सफल न हो सकेंगे।"

पोद्दार जी की इसी प्रकार की बातें थीं जिन्होंने मेरे जीवन में एक निश्चित और बहुत बड़ा परिवर्त्तन कर दिया था। ऐसे महानुभाव के प्रति यदि मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता न प्रकट करूँ तो फिर संसार में मेरा कहाँ ठिकाना लगेगा!

श्रीयुक्त महावीरप्रसाद जी पोद्दार के प्रति अपनी वही हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने के लिये मैं 'नवभारतीय ग्रंथ-माला' का यह प्रथम पुष्प उन्हीं को अर्पित करता हूँ।

कोडरमा
१५ अगस्त, १९४२

बाबूलाल राजगढ़िया

आवश्यक निवेदन

'हिंदू राज्य-तंत्र' का पहला भाग कार्त्तिक सं० १९८४ में सभा ने 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' में प्रकाशित किया था। यद्यपि हिंदी-संसार तभी से इसका दूसरा भाग भी देखने के लिये उत्सुक था, तथापि अनेक कारणों से सभा अभी तक दूसरा भाग प्रकाशित नहीं कर सकी थी। अनुवाद तो उसी समय से तैयार था और प्रेस को दे भी दिया गया था; पर उसके प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो सकती थी। इसके कई कारणों में एक मुख्य कारण धन का अभाव भी था।

हर्ष का विषय है कि कलकत्ते के प्रसिद्ध विद्याप्रेमी और उत्साही सेठ श्री बाबूलाल जी राजगढ़िया का ध्यान इस ओर गया; और उन्होंने इसके प्रकाशन के लिये सभा को एक हजार एक रुपए की सहायता दी, जिससे अब यह दूसरा भाग प्रकाशित होकर हिंदी-प्रेमियों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है।

श्री राजगढ़िया जी चाहते हैं कि सभा के द्वारा "नवभारतीय ग्रंथमाला" नाम की नई माला प्रकाशित

हो। इसके लिये आप अपने मित्रों से भी और स्वयं अपने यहाँ के "श्री केदारनाथ बाबूलाल राजगढ़िया ट्रस्ट" से भी दान दिलाने का विचार रखते हैं। इस माला में जो पुस्तक जिस दाता की आर्थिक सहायता से प्रकाशित होगी, उस पुस्तक पर उस दाता का नाम रहेगा। आशा है, इस माला में शीघ्र ही उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित होंगी।

"नवभारतीय ग्रंथमाला" का यह प्रथम पुष्प आज जिन श्री बाबूलाल जी राजगढ़िया की कृपा से प्रकाशित हो रहा है, वे अपने शुभ विचारों के लिये अधिकांश में श्रीयुक्त महावीरप्रसाद जी पोद्दार से अनुप्राणित हैं। जैसा कि राजगढ़िया जी के लिखे "दो शब्द" से प्रकट है, उनके इच्छानुसार, पोद्दार जी के प्रति उनकी कृतज्ञता सूचित करने के लिये इस माला का यह पहला पुष्प श्री महावीरप्रसाद जी पोद्दार को समर्पित है।

प्रकाशक

—

विषय-सूची

दूसरा भाग

बाईसवाँ प्रकरण

विषय पृष्ठ

तेईसवाँ प्रकरण

चौबीसवाँ प्रकरण

पचीसवाँ प्रकरण

छब्बीसवाँ प्रकरण

छब्बीसवाँ प्रकरण (क)

सत्ताइसवाँ प्रकरण

अट्ठाइसवाँ प्रकरण

विषय पृष्ठ

उन्तीसवाँ प्रकरण

विषय पृष्ठ

तीसवाँ प्रकरण

इकतीसवाँ प्रकरण

बत्तीसवाँ प्रकरण

विषय पृष्ठ

पैंतीसवाँ प्रकरण

छत्तीसवाँ प्रकरण

विषय पृष्ठ

सैंतीसवाँ प्रकरण

अड़तीसवाँ प्रकरण

उन्तालीसवाँ प्रकरण

तेंतीसवाँ प्रकरण

चौंतीसवाँ प्रकरण

विषय पृष्ठ

हिंदू राज्य-तंत्र

दूसरा भाग

बाईसवाँ प्रकरण

हिंदू एकराज-तंत्र

प्राचीनता और सिद्धांत का मूल

राजन् या शासक

§ १९८. "राजन्" शब्द और उसके मूल रूप राट् का शब्दार्थ "शासक" है। लैटिन भाषा के Rex शब्द के साथ इसका संबंध है। परंतु हिंदू राजनीति के विशारदों ने इसकी एक दार्शनिक व्युत्पत्ति बतलाई है। वे कहते हैं कि शासक को राजा इसलिये कहते हैं कि उसका कर्तव्य अच्छे शासन के द्वारा अपनी प्रजा का रंजन करना अथवा उसे प्रसन्न रखना है। समस्त संस्कृत साहित्य में यही दार्शनिक व्युत्पत्ति एक निश्चित सिद्धांत के रूप में मानी गई है।

राजा लोग इस शब्द का व्यवस्था-संबंधी अर्थ भी मानते थे और उसी के अनुसार कार्य भी करते थे। कलिंग के सम्राट् खारवेल ने, जो एक जैन था, अपने शिलालेख (सन् १६५ ई० पू०) में कहा है कि मैं अपनी प्रजा का रंजन करता हूँ, जिसकी संख्या ३५ लाख है। बौद्ध धर्मग्रंथों में भी इस शब्द की यही सैद्धांतिक व्याख्या पाई जाती है। यथा—दम्मेन परे रंजेतीति खो, वासेट्ठ, राजा*। आर्य जाति की मूल और परवर्ती दोनों ही शाखाओं ने इस व्याख्या को ग्रहण किया था। यह राज्य-शासन-संबंधी एक राष्ट्रीय व्याख्या और राष्ट्रीय सिद्धांत था।

§ १६८ क. जैसा कि पहले कहा जा चुका है†, मेगास्थिनीज ने अपने समय में प्रचलित परंपरागत प्रवाद के आधार पर लिखा है कि भारत में एक-तंत्र शासन-प्रणाली ही व्यवस्थित राज्य-शासन का प्राचीनतम रूप है। इसका समर्थन ऋग्वेद से भी होता है, जिससे पता चलता है कि उस

हिंदू एक-राजतंत्र की प्राचीनता

---

* दीग्घ निकाय, अग्गन्न सुत्तंत २१, खंड ३, पृ० ९३।

† हिंदू-राज्यतंत्र, पहला भाग, § १८, पृ० ३१। साथ ही देखो मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes and Arrian, पृ० २००।

समय एक-राजतंत्र ही साधारणतः सब स्थानों में प्रचलित था और लोग शासन का यही एक रूप जानते थे। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, एकतंत्र शासन-प्रणाली के पक्षपाती लेखक अ-राजक या राजा-रहित शासन-प्रणालियों के विरुद्ध इसी तत्त्व का तर्क के रूप में उपयोग करते थे*। मेगास्थिनीज से लोगों ने कहा था कि एकराज शासन-प्रणाली के उपरांत प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणालियाँ स्थापित करके देखी गई थीं। जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है, दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित मध्य देश में एकतंत्र शासन-प्रणाली ही पूर्ण रूप से प्रचलित थी†। अर्थात् एकराज-तंत्र से बदलकर जिस प्रजातंत्र के स्थापित होने के संबंध में मेगास्थिनीज ने उल्लेख किया है, वह परिवर्तन इस मध्य देश में नहीं हुआ था। यह मध्य देश कुरुक्षेत्र

---

* देखो हिंदू-राज्यतंत्र, पहला भाग, §§ १०१ और १७६ मिलाओ—"नाराजकेषु राष्ट्रेषु वास्तव्यमिति वैदिकम्।" महाभा०, शांतिपर्व, ६६.५. (कुंभ०)।

† देखो ऐतरेय ब्राह्मण ८.१४. एतस्यां ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपंचालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्यायैव तेऽभिषिच्यंते। राजेत्येना-नभिषिक्तानाचक्षते।

से प्रयाग तक—यमुना और गंगा की तराइयों में—था और यही आर्य विजेताओं तथा आर्य एकतंत्र प्रणाली का प्रधान स्थान था। पौराणिक इतिहास से भी इस मत की पुष्टि होती है। उसके शासक-कुल मध्य देश के ही हैं और उन्होंने केवल एक ओर—पूर्व ओर—इस मध्य देश की सीमा का अतिक्रमण किया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पूर्व या प्राची दिशा में साम्राज्य* शासन-प्रणाली प्रचलित थी; और यह प्रणाली भी एकतंत्र राज्य-प्रणाली का ही एक रूप थी। इस साम्राज्य का अर्थ है—एकतंत्र राज्यों का समूह या संघात्मक साम्राज्यतंत्र-†।

---

* देखो आगे सैंतीसवाँ प्रकरण। (जान पड़ता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के समय में उत्तर बिहार के प्रजातंत्र अस्तित्व में नहीं आए थे।)

† विदेह और मगध। वैदिक साहित्य (शतपथ ब्राह्मण ११. ३. १. २. साथ ही देखो उभयमेव सम्राट् बृहदा० उप० ४. १. १.) के अनुसार विदेहों के राजा जनक (यह कदाचित् नामवाचक संज्ञा नहीं है, बल्कि एक राजकीय अल्ल है) और पुराणों के अनुसार मगध के राजा जरासंध 'सम्राट्' उपाधिधारी थे। (महाभा० साथ ही देखो § ३६२)

§ १६६. हिंदू साहित्य में हिंदू एकराज शासन-प्रणाली की उत्पत्ति के संबंध में कई सिद्धांत मिलते हैं। वस्तुतः राज्य-शासन पर इन सिद्धांतों का व्यवस्था संबंधी जो प्रभाव पड़ता है, उसे समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन सिद्धांतों का संक्षेप में कुछ वर्णन कर दिया जाय।

एकतंत्र प्रणाली की उत्पत्ति के संबंध में हिंदू सिद्धांत

§ २००. इस संबंध का वैदिक सिद्धांत ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। उसमें कहा गया है कि देवों अर्थात् उनके पूजक हिंदुओं में आरंभ में कोई राजा नहीं था। जब असुरों से युद्ध करते समय देवों ने देखा कि हम लोग बार बार पराजित हो रहे हैं, तब वे इस परिणाम पर पहुँचे कि असुरों की सफलता का कारण यह है कि उनमें नेतृत्व करनेवाला एक राजा है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि हम लोगों को भी एक राजा निर्वाचित करके देखना चाहिए। और तब वे लोग एक राजा के निर्वाचन के लिये सम्मत हुए। कहा है—

वैदिक सिद्धांत; युद्ध से आरंभ

"देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था।......असुरों ने देवों को परास्त किया......देवों ने कहा कि असुरों के द्वारा हमारे पराजित होने का कारण यही है कि हम लोगों में कोई

राजा नहीं है। हम लोगों को एक राजा निर्वाचित करना चाहिए। सब लोग सम्मत हो गए*।"

यदि इस उद्धरण में किसी ऐतिहासिक घटना की ओर संकेत हो तो यह उल्लेख उस समय का होगा, जिस समय आर्य लोग भारतवर्ष में अपने छोटे छोटे जत्थे बनाकर रहा करते थे; और इससे यह सूचित होगा कि आर्यों ने द्रविडों से एकराज प्रणाली ग्रहण की थी। इस सिद्धांत में ऐतिहासिक सत्य चाहे जितना हो, परंतु यहाँ ध्यान देने की मुख्य बात यही है कि इस एकराजता का आरंभ निर्वाचन से हुआ था।

वैज्ञानिकों का पण-संबंधी सिद्धांत

§ २०१. राजनीतिक लेखकों का इस संबंध में अपना एक निजी और स्वतंत्र सिद्धांत है जो प्रायः इस प्रश्न के तात्त्विक अंश तक ही परिमित है। वे कहते हैं कि पहला राजा कुछ निश्चित शर्तों या पणों पर निर्वाचित हुआ था; और बाद में राजा लोग यही मूल पण मानने के लिये बाध्य किए जाते थे†। इस मत के अनुसार राज्य के आभ्यंतर

---

* ऐतरेय ब्रा० १. १४. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतंत......तांस्ततोऽसुरा अजयन्......देवा अब्रुवन्न-राजतया वै नो जयंति राजानं करवामहा इति तथेति।

† देखो अर्थशास्त्र १. ९. पृ० २२-२३ का विवेचन साथ ही देखो महाभारत और आगे §२३८.

शासन के लिये निर्वाचन की आवश्यकता उस समय हुई थी, जब लोगों ने कानून या धर्मशास्त्र का समुचित पालन करना छोड़ दिया था। पण के आधार पर स्थापित एक-राजता के इस सिद्धांत का, जो निस्संदेह और स्पष्टतया पण के आधार पर स्थापित प्रजासत्तात्मक प्रणालीवाले सिद्धांत का प्रतिबिंब है, उन वैदिक मंत्रों और सामों से भी समर्थन होता है जिनका पाठ राजा के निर्वाचन के अवसर पर उस समय होता था, जिस समय निर्वाचन के सिद्धांतों के आधार पर राज्याभिषेक के कृत्य किए जाते थे और जब कि राजा से इस बात की शपथ कराई जाती थी कि वह धर्म या कानून के अनुसार शासन करेगा।

राजा के निर्वाचन का सिद्धांत

आगे चलकर जब राज-सिंहासन का अधिकार वंशानुक्रमिक हो गया, तब भी सदा यही कृत्य किए जाते थे। जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, इन धार्मिक कृत्यों के अनुसार सिद्धांतत: राजा सदा एक निर्वाचित अधिकारी हुआ करता था; और वह उन्हीं शर्तों के अनुसार अपने उस अधिकार का भोग करता था, जिन्हें वह राज्याभिषेक के समय शपथ करते हुए स्वीकृत करता था। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, राजनीतिज्ञों का यह पण संबंधी सिद्धांत सदा मान्य रहता था और राजा तथा प्रजा दोनों ही उसके अनुसार कार्य करते थे।

वैदिक काल के उपरांत भी समय समय पर राजाओं का निर्वाचन हुआ करता था। मेगास्थिनीज ने लिखा है कि स्वयंभू, बुद्ध और क्रतु के उपरांत राज्यारोहण प्रायः वंशानुक्रमिक हो गया था; परंतु "जब किसी राजवंश में कोई उत्तराधिकारी नहीं रह जाता था, तब भारतवासी राजा का निर्वाचन व्यक्ति की योग्यता देखकर किया करते थे*।"

जातकों† में भी राजाओं के निर्वाचन की कथाएँ हैं; बल्कि ऐसी कहानियाँ ‡ भी हैं जिनमें कहा गया है कि पशु-जगत् में भी राजा का निर्वाचन हुआ करता था। इन कथाओं से यही सूचित होता है कि राजा के निर्वाचन का सिद्धांत एक राष्ट्रीय सिद्धांत था जो बहुत अधिक प्रचलित था। अब हम उन मंत्रों का उल्लेख करते हैं जो वेदों में राजा के निर्वाचन के संबंध में आए हैं और जिनका वैदिक एकराजता से संबंध है।

——

* Mc Crindle, *Megasthenese and Arrian*, पृ० २००।

† जातक, पहला खंड, पृ० ३६६।

‡ देखो महावस्तु (सेनर्टवाला संस्करण), दूसरा खंड, पृ० ७०।

तेईसवाँ प्रकरण

वैदिक राजा और उसका चुनाव

राजा का निर्वाचन और उसकी स्थिति

§ २०२. राजा का निर्वाचन समिति में एकत्र होनेवाले लोग किया करते थे। कहा जाता है कि वहाँ जो लोग एकत्र होते थे, वे एकमत होकर राजा का निर्वाचन करते थे। समिति उसे नियुक्त करती थी और उससे शासनाधिकार ग्रहण करने की प्रार्थना करती थी। आशा की जाती थी कि वह अपने पद से च्युत न होगा और शत्रुओं का दलन करेगा।

राजा के निर्वाचन का एक पूरा गान यहाँ उद्धृत किया जाता है* ।

आ त्वाहार्षमंतरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥

---

* अथर्व वेद ६. ८७-८८, ऋग्वेद १०.१७३ में भी यही गान कुछ थोड़े से परिवर्तित रूप में मिलता है।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्
इंद्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥२॥
इंद्र एतमदीधरद्ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इंद्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२॥
ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूंछत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥३॥

इसका आशय इस प्रकार है—

"तुम हर्षपूर्वक हम लोगों में आओ, अविचल रूप से स्थित हो; सब लोग तुम्हें चाहते हैं; तुम राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।

"तुम यहाँ पर्वत के समान दृढ़ रहो और तुम्हारा पतन न हो। तुम यहाँ इंद्र के समान अविचल रहो। तुम यहाँ रहो और राष्ट्र का धारण करो।

"इंद्र ने हवि के कारण इस राष्ट्र को दृढ़तापूर्वक धारण किया है। इसके लिये सोम और ब्रह्मणस्पति ने भी ऐसा ही कहा है।

"प्रजा का यह राजा वैसा ही ध्रुव (परम दृढ़) हो जैसा ध्रुव स्वर्ग है, जैसी ध्रुव पृथ्वी है, जैसा ध्रुव विश्व है और जैसे ध्रुव पर्वत हैं।

"तुम इस राष्ट्र का धारण करो; राजा वरुण और देवता बृहस्पति, इंद्र तथा अग्नि इसे ध्रुव करें।

"तुम दृढ़ता और निश्चयपूर्वक शत्रुओं को पराजित करो; और जो लोग शत्रुता का आचरण करें, उन्हें अपने पैरों से कुचल डालो। सब दिशाएँ एकमत होकर तुम्हारा सम्मान करती हैं और ध्रुवता (दृढ़ता) के लिये समिति यहाँ तुम्हारी कल्पना (नियुक्ति) करती है।"

यहाँ एक मंत्र और उद्धृत किया जाता है। जान पड़ता है कि इसका व्यवहार किसी ऐसे राजा के पुनः निर्वाचित होने के समय होता था जो पहले एक बार निकाल दिया जाता था।

"त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पंच देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥"

अर्थात्—राज्य के लिये प्रजा तुम्हें वरण करती है, विस्तृत* विशाल दिशाएँ तुम्हें वरण करती हैं। राष्ट्र के शरीर

---

* "पंच" शब्द का अर्थ या तो "विस्तृत" हो सकता है और या "पाँच"। यहाँ पहला अर्थ ही अधिक प्रशस्त जान पड़ता है; क्योंकि एकत्र होनेवाले लोग चारों दिशाओं के ही हो सकते हैं, पाँचवीं दिशा आकाश के नहीं हो सकते। निर्वाचन संबंधी मंत्रों में दिशा शब्द का प्रयोग आलंकारिक भाषा में एकत्र होनेवाले लोगों के लिये ही होता है।

के इस उच्च स्थान पर आसीन हो और यहाँ से उग्रतापूर्वक* सब लोगों को प्राकृतिक वैभव प्रदान करो† ।

ककुद् का शब्दार्थ है—बैल के कंधे पर का डिल्ला । यहाँ इस शब्द से राजसिंहासन की ओर संकेत है जो राष्ट्र के शरीर का सबसे ऊँचा स्थान समझा जाता है । इस मंत्र के पहले चरण से यह सूचित होता है कि यह कथन एकराट् या राजा के संबंध में है ।

कर लेने का एक-मात्र अधिकारी

§ २०३. ऊपर निर्वाचन के संबंध में जो गान उद्धृत किया गया है, उससे मिलता-जुलता एक और गान ऋग्वेद में है‡, जिसके अंतिम पद के अनुसार वह प्रजा से कर लेने का एक मात्र अधिकारी और उनका राजा निश्चित होता है । 'कर लेने का एक-मात्र अधिकारी' पद से यह सूचित होता है कि उस समय तक यह निश्चित हो चुका था कि राजा को प्रजा से कर कर लेने

---

* अथवा उग्र शासक के समान (न उग्रः) देखो ऊपर § १०२ ।

† अथर्व वेद, ३. ४. २ ।

‡ ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि ।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥
ऋग्वेद १०.१७३.६.

का नियमित रूप से अधिकार है। प्रजा से कर लेने का राजा के अतिरिक्त और किसी को अधिकार नहीं होता था। राजा से एक उच्च आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की जाती थी। इस संबंध में ध्यान देने की एक मुख्य बात यह है कि वह आसन राष्ट्र के शरीर का सर्वोच्च स्थान कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि राष्ट्र के शरीर-धारी होने का विचार उसी समय उत्पन्न हो चुका था, जिस समय वैदिक एकराजता का आरंभ हुआ था।

राजकर्त्ता

§ २०४. राज-सिंहासन पर आरोहण करने के उपरांत राजा उपस्थित व्यक्तियों तथा राजकर्ताओं (राजा बनाने या चुननेवाले लोगों) से, जो परवर्ती ग्रंथों* के अनुसार उच्च राज्याधिकारी या राजमंत्री† आदि होते थे, लक्षण-स्वरूप बाहु पर धारण करने की एक मणि ग्रहण करता था जो पलाश की लकड़ी की बनी होती थी। राज्य के ये उच्च अधिकारी कोषाध्यक्ष, सेनापति, ग्रामों के नेता (ग्रामणी) तथा कुछ और लोग हुआ करते थे। नव-निर्वाचित राजा उन्हें राजा या राज-

---

* ब्राह्मण ग्रंथ तथा कृष्ण यजुर्वेद।

† मिलाओ महा गोविंद सुत्तंत ३२ और दीग्घ निकाय २.२३३ जिनमें राज्य के छः प्रधान अधिकारी राजकर्त्ता या राजकत्तारो कहे गए हैं।

कर्त्ता कहता था। इससे सूचित होता है कि राजकर्त्ता लोग भिन्न भिन्न वर्गों के नेता तथा राज्य के बड़े कर्मचारी हुआ करते थे जो राज्य के शासक समझे जाते थे और राजा जिन सबका प्रधान शासक माना जाता था। बाद में ये लोग रत्नि या रत्नी कहे जाने लगे थे, जिसका अभिप्राय है मणि या रत्न रखनेवाले। इसका कारण यही था कि यही लोग राजा को राज्याधिकार-सूचक चिह्न या मणि दिया करते थे। आरंभ में राजा यह अधिकार-सूचक मणि सभी उपस्थित लोगों से ग्रहण करता था जिनमें कर्मकार (कारीगर) तथा रथकार तक सम्मिलित रहते थे। वैदिक राज-निर्वाचन में यही एक लाक्षणिक कृत्य होता था।

पर्ण या मणि ग्रहण करते समय राजा कहा करता था—

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

अर्थात्—हे पर्ण, ये धीवान् रथकार और मनीषी कर्मार (कारीगर) और मेरे आस-पास उपस्थित सब लोग मेरी सहायता करें। हे पर्ण, सब राजा और राजकर्त्ता. सूत

(रथ हाँकनेवाले) तथा ग्रामणी और जो लोग इस समय मेरे आस-पास उपस्थित हैं, मेरी सहायता करें * ।

इससे सूचित होता है कि राजा सभी उपस्थित लोगों से, जिनमें राजकर्त्ताओं से लेकर कारीगर तक सभी लोग होते थे, अपना राजकीय अधिकार ग्रहण करता था। राजा अपने पूरे जीवन भर के लिये निर्वाचित होता था। कहा जाता था—

आजन्म का निर्वाचन

"हे बलवान् सुमन (राजा), तुम अपने जीवन के दसवें दशक तक यहाँ शासन करो† ।"

राजसिंहासन पर शेर, चीते या तेंदुए का चमड़ा बिछाया जाता था। जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा, यह प्रथा उस समय तक प्रचलित रही, जब राजसिंहासन बहुमूल्य पदार्थों के बनने लगे थे। इस चमड़ा बिछाने से एक विशेष बात सूचित होती थी। यह विशेष वीरता का सूचक चिह्न समझा जाता था।

कहा जाता था—

"हे राजा, तू स्वयं व्याघ्र है। इस व्याघ्र-चर्म पर बैठकर महान् दिशाओं में संक्रमण कर। समस्त विश (प्रजा वर्ग)

---

* अथर्ववेद ३. ५. ६-७. ब्लूमफील्ड के अनुवाद के आधार पर। S. B. E. ४२. ११४।

† अथर्ववेद ३. ४. ७. दशमीमुग्रः सुमना वशेह।

तेरी कामना करते हैं* ।” जब राजा सिंहासन पर बैठ जाता था, तब उस पर जल का सिंचन होता था† ।

§ २०५. कभी कभी ऐसा भी होता था कि राजा अपने राज-पद से च्युत कर दिया जाता था और देश से निर्वासित कर दिया जाता था । कुछ दिनों तक निर्वासित रहने के उपरांत वह पुराना राजा फिर से राजा निर्वाचित कर लिया जाता था ।

राज्यच्युति और पुनः निर्वाचन

एक स्थान पर कहा है—

“वह जो निर्वासित होकर अन्य दूर देश में विचरण कर रहा है और जो फिर बुलाए जाने के योग्य है, उसे गिद्ध यहाँ ले आवेगा । अश्विन तेरे लिये ऐसा मार्ग प्रस्तुत करेंगे

---

* अथर्ववेद ४. ८. ४. व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो महीः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु...॥

† अथर्ववेद ४. ८. ५-६. तासां त्वा सर्वासामपामभि-षिञ्चामि वर्चसा ॥५॥ अभि त्वा वर्चसासिञ्चन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ॥६॥

अथर्ववेद के श्रौत सूत्रों से यह बात स्पष्ट है कि यह कृत्य एकराज राष्ट्र के राजा (एक-राजा) के राज्याभिषेक से संबंध रखता है ।

जिस पर यात्रा करना सुगम होगा। उसके सब सजात उसके चारों ओर एकत्र हों। तेरे विरोधी तुझे बुलावेंगे। तेरे मित्रों ने तेरा निर्वाचन किया है*।"

कहा गया है कि वह अपने निर्वाचकों से समझौता कर लेता था।

"(हे राजा) तू अपने विशों (प्रजा वर्ग) में आ; क्योंकि तूने निर्वाचकों की बात मान ली है†।"

उसका कर्तव्य

§ २०६. यह आशा की जाती थी कि राजा अपनी प्रजा के लिये धन और वैभव प्राप्त करेगा‡।

---

* अथर्ववेद ३. ३. ५. श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्। अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम्॥

क्या इससे यह समझा जाय कि उस समय गिद्ध राजसूचक चिह्न माना जाता था?

† अथर्ववेद ३. ४. ६. इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः। स त्वायमहूत स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः।

‡ अथर्ववेद ३. ४. ४. अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि। S. B. E. खंड ४२, पृ० ११३।

"तू अपना मन धन प्रदान करने में एकाग्र कर। और तब, हे बलवान्, हम लोगों में धन वितरित कर।"

इस संबंध में यहाँ अथर्ववेद से एक ऐसा अंश उद्धृत कर देना मनोरंजक होगा जिसमें प्रजा के धन और वैभव का वर्णन है। इन मंत्रों में कुरु देश के राजा परीक्षित के सफलतापूर्ण शासन की प्रशंसा की गई है* और जान पड़ता है कि कदाचित् यह उसी समय का बना हुआ है। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

"उस राजा की प्रशंसा सुनो जो सब लोगों पर शासन करता है। मैं तुम्हारे लिये क्या लाऊँ, दही, मठा या सुरा? इस प्रकार राजा परीक्षित के राज्य में पत्नी अपने पति से पूछती है।"

---

* अथर्ववेद २० १२७. . ७–१०.

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोमर्त्यां अति।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा श्रृणोता परिक्षितः ॥७॥

... ...

कतरत् त आ हराणि दधिमन्थं परिश्रुतम्।
जाया पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥९॥
अभीव स्वः प्र जिहीते यवः पक्वः परो बिलम्
जनः स भद्रमेधते राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥१०॥

इसका तात्पर्य यही है कि कुरु देश की स्त्री अपने प्यासे पति को पीने के लिये पानी जैसा साधारण पदार्थ देने का कभी विचार ही नहीं करती थी। और जब यवमद्य लाया जाता था, तब वह इतना लबालब भरा हुआ होता था कि "किनारों पर से छलकता रहता था।" इससे सिद्ध होता है कि राजा परीक्षित के राज्य में प्रजा बहुत ही सुखी और प्रसन्न रहती थी।

परवर्ती राजनीति-विज्ञान के मूल तत्त्व

§ २०७. वैदिक काल में राजा का निर्वाचन बहुत ही सरल होता था और ठीक काम के ढंग पर होता था। परंतु उसके साथ एक बहुत ही तत्त्व या सिद्धांत की बात लगी हुई है। वह यह कि राजा का निर्वाचन प्रजा के द्वारा होता था, उससे कुछ निश्चित कर्तव्यों के पालन की आशा की जाती थी और उसे कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते थे। वह अपना पद प्रजा और राजकर्त्ताओं के हाथों ग्रहण करता था; वह अपने निर्वाचकों के मत से सम्मत होता था। वह अपने पद से च्युत किया जा सकता था और निर्वाचन से पुनः बुलाया जा सकता था। इन वेद-मंत्रों में एकराजता के राजनीतिक दर्शन या विज्ञान के सभी मूल तत्त्व पाए जाते हैं।

यद्यपि इसे सिद्धांत का रूप नहीं दिया जा सकता, परंतु फिर भी स्पष्ट रूप से यही ज्ञात होता है कि वस्तुतः

राजा का पद प्रजा का बनाया हुआ होता था और राजा वह पद कुछ निश्चित पणों या शर्तों पर ग्रहण करता था। उस पर सदा राष्ट्रीय सभा या समिति का अधिकार रहता था; और जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं, वही समिति प्रधान शासिका और अधिकारिणी हुआ करती थी।*

——

* मिलाओ मैक्डनल कृत History of Sanskrit Literature पृ० १५८. राजा का पद प्रायः वंशानुक्रमिक हुआ करता था।........उसका अधिकार किसी प्रकार अमर्यादित नहीं होता था, बल्कि भिन्न भिन्न वर्गों की सभा (समिति) में प्रजा अपना जो मत प्रदर्शित करती थी, उस मत से उसका अधिकार मर्यादित रहता था।

चौबीसवाँ प्रकरण

ब्राह्मण काल का राज्याभिषेक और उसका संघटनात्मक महत्त्व

§ २०८. ब्राह्मण साहित्य के समय में आकर राज्याभिषेक बहुत ही विस्तृत हो गया था और उसके साथ अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य होने लग गए थे। उसके लिये अनेक राजकीय कृत्यों और रस्मों आदि की विशेष रूप से स्थापना की गई थी। परंतु फिर भी उनमें राष्ट्र के संघटन से संबंध रखनेवाली वे सभी विशेषताएँ लगी हुई थीं जो पहले वैदिक काल में थीं। वस्तुतः ये सब उन्हीं मूल विचारों के विकसित रूप थे।

निश्चित कृत्य

इस काल में आकर राज्याभिषेक के संबंध में कुछ धार्मिक कृत्य निश्चित हुए थे और कुछ रस्में बनी थीं; और वे कृत्य तथा रस्में सदा के लिये आवश्यक कर दी गई थीं। तब से भारत में जितने हिंदू राजाओं का राज्याभिषेक हुआ है, उन सब में वे सब कृत्य किए गए हैं; क्योंकि धर्म और परिपाटी दोनों के अनुसार सनातनी विचार से बिना उन कृत्यों के

कोई राजा राजत्व प्राप्त ही नहीं कर सकता। वही रस्में बराबर होती चली आईं और सत्रहवीं शताब्दी तक के धर्म-शास्त्रियों ने मुसलमानों के शासन-काल में भी हिंदू राजाओं के लिये उन्हीं कृत्यों आदि का विधान किया*।

§ २०६. समाज के प्रधानों या राजाओं को अभिषिक्त करने के लिये श्रुतियों में तीन यज्ञ कहे गए हैं। उनमें से सबसे पहला यज्ञ राजसूय है जिसके अनुसार वह राज-पद का अधिकारी होता था। दूसरा यज्ञ वाजपेय था जिसके द्वारा राजा राजर्षि या राजधर्माधिकारी पद का अधिकारी होता था। और तीसरा यज्ञ सर्वमेध था जिसके द्वारा वह समस्त विश्व पर शासन करने का अधिकारी होता था। संभवतः वाजपेय का मूल राजनीतिक नहीं था और उसका प्रचार दिग्विजय† या इसी प्रकार की और किसी बात का उत्सव मनाने के लिये हुआ था। परंतु बाद में राजकीय तथा धार्मिक अभिषेकों आदि के लिये उसका ग्रहण किया गया था। सर्वमेध‡ एक विशिष्ट यज्ञ था जो केवल वही सम्राट्

---

* देखो मित्र मिश्र कृत वीरमित्रोदय राजनीति, पृ० ८५-११३।

† मिलाओ तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३. २. २. देखो Egelling, S. B. E. ४१, पृ० २४ (प्रस्तावना)

‡ देखो शतपथ ब्राह्मण १३. ७. १.

करते थे जो राज-पद पर अभिषिक्त हो चुके होते थे। इस कृत्य से यह प्रमाणित होता है कि उस समय भी समस्त भारत में एक ही राज्य होने का आदर्श विचार प्रचलित हो चुका था*। परंतु साधारणतः राज्याभिषेक राजसूय के ही द्वारा हुआ करता था।

"राज्ञ एव राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति......।"

"राजा के लिये ही राजसूय है; क्योंकि राजसूय यज्ञ करने से ही वह राजा होता है†।"

हम यहाँ मुख्यतः राजसूय के ही कृत्यों का विवेचन करेंगे और वाजपेय के संबंध में भी कुछ बतलावेंगे। वास्तव में बात यह है कि बहुत सी बातें ऐसी हैं जो दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं और दोनों कृत्य एक दूसरे के पूरक हैं। राजसूय करने से पहले वाजपेय कर लेना आवश्यक समझा जाने लगा था।

§ २१०. राजसूय के तीन मुख्य अंग होते हैं। इसमें पहले कई यज्ञ और होम आदि होते हैं; और तब दूसरा कृत्य

---

* मिलाओ ऐतरेय ब्राह्मण ८. १५. और पाणिनि ५. १, ४१-४२; सार्वभौम का प्रकरण।

† शतपथ ब्राह्मण ५. १. १. १२।

अभिषेचनीय होता है, जिसमें राजा पर, उसे पवित्र करने के लिये, जल छिड़का जाता है। इस अभिषेचनीय के उपरांत कई और यज्ञ तथा दूसरे कृत्य होते हैं। इन तीनों में से अभिषेचनीय सबसे अधिक महत्त्व का कृत्य है। और कदाचित् व्यवहार में राज्याभिषेक के समय इसी के कृत्य सब से अधिक आवश्यक और अनिवार्य समझे जाते थे।

इस यज्ञ का अध्ययन करनेवाले का पहले-पहल जिस बात पर ध्यान जाता है, वह यह है कि निर्वाचित होनेवाले राजा के लिये "वह" सर्वनाम का प्रयोग होता है। हाँ, जब अभिषेचनीय का कृत्य समाप्त हो जाता है, तब वह राजा कहा जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि जब अभिषेचनीय का कृत्य समाप्त हो जाता है, तभी वह राज-पद का अधिकारी होता है। इससे पूर्व वह एक साधारण नागरिक ही रहता है।

रत्न-हवि

§ २११. आरंभ में निर्वाचित होनेवाले राजा को ग्यारह रत्नियों के घर जाकर उन्हें ग्यारह रत्न-हवियाँ देनी पड़ती हैं। रत्न-हवि लेनेवाले ग्यारह रत्नी इस प्रकार हैं*।

* शतपथ ब्राह्मण ५. ३. १. साथ ही मिलाओ तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७. ३. (पूने का पहला संस्करण, पृ० ३०८-

(१) सेनानी (सेना का प्रधान अधिकारी)।

(२) पुरोहित (तैत्तिरीय विधान के अनुसार ब्राह्मण)।

(३) निर्वाचित होनेवाला स्वयं राजा—जो क्षत्र या शासन का प्रतिनिधि होता है। तैत्तिरीय में निर्वाचित होनेवाले राजा के स्थान में 'राजन्य', कहा गया है।

(४) महिषी—(राजा की पत्नी)। महिषी या रानी भी राज्य की अधिकारिणी होती थी; क्योंकि कुछ विशिष्ट राजकीय अवसरों पर वह राजा के साथ राजसिंहासन पर बैठती थी। जान पड़ता है कि इसके मूल में यह सिद्धांत है कि बिना पत्नी के कोई धार्मिक कृत्य हो ही नहीं सकता।

---

३१०) और तैत्तिरीय संहिता १. ८. ६. (मैसूरवाला पहला सं०) पृ० १४६-४६।

लिखा है कि रत्नी तो ग्यारह होते हैं, परंतु हवि बारह स्थानों में दी जाती है। जान पड़ता है कि राजा स्वयं अपने स्थान पर जो हवि देता था, उसकी गणना इसमें नहीं की गई है। (कृष्ण यजुर्वेद में राजा के लिये स्वयं अपने स्थान पर हवि देने का विधान नहीं है।) अथवा यह संभव है कि अंतिम दो रत्नियों को एक साथ ही हवि-अर्पण होता हो।

कृत्य करनेवाला स्वयं आधा ही अंग होता है ; दूसरा आधा अंग उसकी पत्नी मानी जाती है।

"आओ पत्नी, हम लोग आकाश पर चढ़ें।" पत्नी कहती है—"चलो, चढ़ें।"......पत्नी पति का आधा अंग होती है। जब तक पति अपनी पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह आधा और अपूर्ण रहता है*।

यजुर्वेद में राजसूय यज्ञ का जो विधान है, उसमें भावी राजमहिषी के राजसिंहासन पर बैठने का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु रामायण और महाभारत आदि से प्रमाणित होता है कि राजा और राजमहिषी दोनों का राज्याभिषेक साथ साथ होता था†।

पहले होनेवाले वाजपेय में सब विधान बतला दिए गए हैं; इसलिये राजसूय के संबंध में वे दोहराए नहीं गए हैं। यजुर्वेद की दूसरी शाखाओं में भी पत्नी को हवि देने

---

* शतपथ ब्राह्मण ५. २. १. १०. S. B. E. ४१, पृ० ३२।

† रामायण, युद्ध कांड १२८. ५६. महाभारत, शांति पर्व (कुंभकोणम्वाला सं०) ३६. १४. उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च।

का यही विधान है। बल्कि उनके अनुसार राजा को अपनी दूसरी छोटी जाति की स्त्रियों वावाता और परिवृक्ति* का भी पूजन करना पड़ता था। अश्वमेध यज्ञ में तो राजा की शूद्रा पत्नी (पालागला) भी सम्मिलित होती है†।

(५) सूत—दरबार में राजा की वंशावली और विरुद आदि सुनानेवाला। जान पड़ता है कि आरंभ में वंशावली आदि सुनाने के अतिरिक्त इसका कोई और महत्त्वपूर्ण कार्य भी हुआ करता था। अर्थशास्त्र (५. ३. ६१, पृ० २४५) में मौर्य राजकर्मचारियों की जो सूची दी गई है, उसमें इसकी गणना पौराणिक आदि छोटे राज्याधिकारियों में की गई है, जिन्हें प्रति वर्ष १००० चाँदी के पण वृत्ति या वेतन रूप में मिलते थे। जैसा कि बृहदा० उप० ४. ४. ३७. से सूचित होता है, जान पड़ता है कि प्रत्येक प्रांतीय राजनगर का एक पृथक् सूत हुआ करता था। आगे चलकर यही सूत कदाचित् इतिहास-लेखक हो गया

---

* मिलाओ शतपथ ब्राह्मण १३. ५. २. ५-८।

परिवृक्त्या राज्ञो मध्यमपत्न्याः। भट्ट भास्कर; तैत्तिरीय संहिता (मैसूर) ३. पृ० १४६।

† शतपथ ब्रा० १३. ५ २. ८. रामायण, बाल० १४. ३५।

था जिसे हुएन-त्सांगने हर्षवर्धन के साम्राज्य में देखा था। इसका काम यही होता था कि अपने प्रांत की सभी अच्छी और बुरी घटनाएँ, अशुभ और शुभ कार्य लिखा करे। खारवेल आदि के शिलालेखों से सूचित होता है कि एक एक वर्ष की घटनाएँ अलग अलग लिखी जाती थीं।

(६) ग्रामणी-(गाँवों का मुखिया या ग्राम्य संस्था का प्रधान)। यजुर्वेद के मैत्रायणी के अनुसार वैश्य ग्रामणी*।

(७) क्षत्रिय।

(८) संग्रहितृ (राजकोष का अध्यक्ष) परवर्ती काल में (अर्थात् अर्थशास्त्र में) यह सन्निधातृ कहा गया है†।

---

* देखो § २१२ की पाद-टिप्पणी।

† भट्ट भास्कर (मैसूर सं०, तैत्तिरीय संहिता ३. पृ० १४८.) कहते हैं कि संगृहीता का पहला अर्थ है—बाग पकड़नेवाला अर्थात् वाहक। (संग्रहीतुः...रश्मिग्राहिणः); और तब दूसरों की सम्मति उद्धृत करते हुए दूसरा अर्थ इस प्रकार देते हैं—रज्जुभिर्नियंता कुमाराध्यक्ष इत्यन्ये "वह जो (शासन की) बाग पकड़कर (राज्य-प्रबंध का) संचालन करता हो;" अर्थात् प्रधान मंत्री। यदि इस शब्द

(९) भागदुह—(राजकर का संग्रह करनेवाला) परवर्ती काल में (अर्थात् अर्थशास्त्र में) इसे समाहर्तृ या समाहर्त्ता कहा गया है। इसका शब्दार्थ है भाग या हिस्सा दूहनेवाला। भाग से अभिप्राय राजा को मिलनेवाले षष्ठमांश से है। इससे यह सूचति होता है कि उस समय तक यह निश्चित हो चुका था कि राजा को प्रजा से कितना कर लेना चाहिए।

(१०) अक्षावाप—टीकाकारों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि यह द्यूत विभाग का प्रधान अधिकारी या नियंत्रण करनेवाला होता था। द्यूत-क्रीड़ा पर राज्य का नियंत्रण रहता था और उस पर कर लिया जाता था। परंतु इस विभाग को मिलनेवाला इतना महत्त्व कुछ विलक्षण सा जान पड़ता है और टीकाकारों के दिए हुए अर्थ पर संदेह हो सकता है। अर्थशास्त्र में दी हुई अधिकारियों की सूची में सन्निधाता और समाहर्त्ता के उपरांत, जो हमारी सूची के आठवें और नवें अधिकारी हैं, अक्षपटल आता है, जिसका अर्थ है—आय व्यय के लेखे का प्रधान

का रज्जु शब्द के साथ कुछ संबंध हो तो अशोक के शिलालेखों के 'राजुक' शब्द के साथ भी इसका कुछ संबंध होगा।

विभाग या कर्मचारी। इस प्रकार इससे मिलते हुए अक्षावाप का अर्थ राज्य के आय-व्यय के लेखों का प्रधान अधिकारी ही जान पड़ता है। द्यूत-विभाग का अधिकारी यहाँ बिलकुल अप्रासंगिक होगा। जान पड़ता है कि उन दिनों किसी तख्ती (पटल या अधिदेवन) आदि पर चौकोर खाने या अक्ष बनाए जाते थे जिनकी सहायता से हिसाब लगाए जाते थे। इसी संबंध में अक्ष-शाला (अर्थशास्त्र पृ० ८५) पर भी विचार कर लेना चाहिए। इस अक्ष-शाला विभाग के अधीन सोना, चाँदी और टकसाल रहती थी। इन कार्य विभागों में अक्ष का द्यूतक्रीड़ा से कोई संबंध नहीं है।

(११) गोविकर्तृ या गोविकर्त्ता (जंगलों का प्रधान अधिकारी)। इसका शब्दार्थ है जंगली पशुओं का नाशक। जान पड़ता है कि यह वही अधिकारी है जिसे मेगास्थिनीज ने "राज्य के बड़े अधिकारियों*" में बतलाया है और कहा है कि यह उन शिकारियों आदि का प्रधान होता था जो देश के जंगली पशुओं तथा बीज खा जानेवाले पक्षियों आदि का नाश करते थे†।

---

* Mcr. Crindle, Megasthenes, पृ० ८६

† " " पृ० ८४।

(१२) पालागल (समाचार पहुँचानेवाला दूत या हरकारा)—यह लाल रंग की पगड़ी बाँधता था और इसके पास चमड़े का एक तरकश रहता था *। यह शूद्र जाति का होता था†। यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता‡ में इसके स्थान पर तक्ष या बढ़ई और रथकार या रथ बनानेवाले का नाम दिया है।

रत्नी

§ २१२. ये रत्नी वैदिक काल के मणिदाताओं के ही विकसित रूप हैं। वैदिक काल के ये मणि देनेवाले राजकर्त्ता (राजकृतः या मंत्री), सूत, ग्राम के मुखिया, रथकार और धातु का काम करनेवाले लोग होते थे जो और सब प्रकार के लोगों से आवृत रहते थे।

परंतु आगे चलकर ये रत्नी लोग राज्य के उच्च कर्मचारी या अधिकारी हो गए थे। जान पड़ता है कि इन कर्मचारियों या अधिकारियों के चुनाव के मूल में जाति और वर्ग के प्रतिनिधित्व का सिद्धांत काम करता था। यजुर्वेद की अधिकांश शाखाओं में पुरोहित बराबर केवल ब्राह्मण

---

* तैत्तिरीय में अंतिम दोनों के नाम नहीं हैं।

† शतपथ ब्रा॰ १३. ५. २. ८।

‡ मैत्रायणी संहिता २. ६. ५.

कहा गया है। वह मानो समस्त ब्राह्मणों का प्रतिनिधि होता था। राजन्य अथवा निर्वाचित होनेवाला स्वयं राजा राजन्य या क्षत्रिय वर्ग का प्रतिनिधि होता था। मैत्रायणी उपनिषद्* में ग्रामणी को वैश्य ग्रामणी कहा गया है। ग्रामों का यह मुखिया वैश्य जाति का होता था और वैश्यों अथवा मूल निवासियों का, जो अब विश अथवा सर्वसाधारण के वर्ग में आ गए थे, प्रतिनिधि होता था। तक्ष और रथकार वही हैं जो वैदिक काल में कर्मार (कारीगर) और रथकार थे। शुक्र पद्धति में उनका स्थान पालागल को दिया गया है। यहाँ वर्ग का स्थान वर्ण ने ले लिया है। सेनानी, पुरोहित, क्षत्र, संगृहीता, भागदुह, अक्षावाप और गोविकर्त्ता उच्च राज-मंत्री हैं जो प्राचीन काल में राजकृत अथवा राजकर्त्ता होते थे। रामायण तक में उच्च राजमंत्री राजकर्त्ता ही कहे गए हैं। (समेत्य राजकर्त्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्। अयो० ७९. १। टीका राजकर्त्तारः मंत्रिणः।)

जब समाज बढ़ा, तब समस्त विश या सर्वसाधारण के लिये एकत्र होना संभव न रह गया और स्वभावतः प्रति-

---

* मारुतः सप्तकपालो वैश्यस्य ग्रामण्यो गृहे। मैत्रायणी संहिता २. ६. ५. और ४. ३. ८।

निधित्व का सिद्धांत काम में लाना पड़ा। इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य परिवर्तन यह है कि शूद्र भी स्पष्ट रूप से समाज का एक अंग माना गया था। राष्ट्र के संघटन की दृष्टि से यह बहुत बड़ा परिवर्तन है। इसमें विजित हीन जाति का पूजन उस व्यक्ति को करना पड़ता था, जो राज-सिंहासन ग्रहण करने को होता था। वह भी राज्यतंत्र का उतना ही अंतर्भुक्त अंग था जितना कि और कोई वर्ग या वर्ण था। जैसा कि हम आगे बतलावेंगे, शूद्रों के अधिकारों की यह मान्यता आगे चलकर दिन पर दिन अधिक प्रबल होती गई थी।

§ २१३. जब रत्नियों का पूजन किया जाता था, तब उनमें से प्रत्येक से कहा जाता था—"हम तुम्हारे लिये ही इस प्रकार अभिषिक्त होते हैं और तुम्हें अपना निष्ठ अनुगामी बनाते हैं।" वह ग्रामणी को इसलिये हवि देता है कि "वह (ग्रामणी) निश्चित रूप से उस राजा का एक रत्न है और उसके लिये वह अभिषिक्त होता है इत्यादि* ।"

---

* ग्रामण्यो गृहान् परेत्य मारुतं सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति विशो वै मरुतो वैश्यो वै ग्रामणीस्तस्मान् मारुतो

§ २१५. इसके मूल में जो विचार है, वह केवल मानवता का है। राजा के पद या व्यक्तित्व के संबंध में यहाँ देवत्व का कोई भाव नहीं है।

मूल विचार

रत्नों के उपरांत वह सोम और रुद्र को चरु देता है। धर्म-शास्त्रियों को यह बात बहुत खटकी थी कि बड़े बड़े देवताओं का पूजन मानव पदाधिकारियों के उपरांत हो; इसलिये उन लोगों ने कल्पना करके इसके लिये एक कैफियत ढूँढ़ निकाली और कहा कि पहले ऐसे लोगों का पूजन हो चुकता था जो पूजन के योग्य नहीं होते थे; इसलिये उसके प्रायश्चित्त स्वरूप देवताओं का पूजन करके उन्हें संतुष्ट करने की आवश्यकता होती थी*।

अभिषेचनीय

§ २१६. अभिषेचनीय में पहले कुछ देवताओं को इसलिये बलि अर्पित की जाती है कि वे निर्वाचित होनेवाले राजा को उन गुणों से युक्त करें जो उसके पद के लिये आवश्यक होते हैं। बल के लिये सविता की, गार्हस्थ्य गुणों के लिये गार्हपत्य अग्नि की, वनों की रक्षा करने की शक्ति के लिये सोम की, वाक् शक्ति के लिये बृहस्पति की, शासन की योग्यता के

---

* शतपथ ब्राह्मण ५. ३. २.

लिये इंद्र की, गो-धन की रक्षा करने की शक्ति के लिये रुद्र की, सत्यता के लिये मित्र की और अंत में धर्म या कानून की रक्षा के लिये वरुण की स्तुति की जाती थी।

§ २१७. शतपथ ब्राह्मण में कहा है—"इस प्रकार वरुण, जो धर्मपति अथवा धर्म (कानून) का रक्षक है, उसे (राजा को) धर्म-पति बनाता है; और राज्य वास्तव में तभी सर्वश्रेष्ठ होता है, जब राजा धर्मपति अथवा धर्म का रक्षक होता है। जो श्रेष्ठ राज्य का अधिकारी होता है, उसके पास वे धर्म की रक्षा के लिये आते हैं*।" ब्राह्मण ग्रंथों के लिखे जाने के समय का एक-राजता के संबंध का यह एक नया सिद्धांत है। इस धार्मिक कृत्य का यही आशय है कि धर्म की रक्षा करना राजा का आवश्यक कर्तव्य है। परंतु टीकाकारों ने इसका यह अभिप्राय बतलाया है कि किसी सर्वांगपूर्ण राज्य का एक मुख्य लक्षण यह है कि धर्म या कानून का निर्वाह राजा या उसके नियुक्त किए हुए

---

* शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ३. ६. अथ वरुणाय धर्मपतये। वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति तदेनं वरुण एव धर्मपतिर्धर्मस्य पतिं करोति परमता वै सा यो धर्मस्य पतिरसद्यो हि परमतां गच्छति त ꣳ हि धर्मऽउपयंति तस्माद् वरुणाय धर्मपतये।

मिलाओ S. B. E. ४१. पृ० ७१।

पदाधिकारियों के द्वारा होना चाहिए (उसके लिये वे धर्म की रक्षा के हेतु आते हैं)। पुराना सिद्धांत यह था कि समाज के धर्म का निर्वाह समाज के ही द्वारा होता है। जातकों के समय में यह नया सिद्धांत वस्तुतः कार्य रूप में परिणत हो गया था; और मौर्यों के साम्राज्य के समय इसका पूर्ण प्रचार हो गया था; जब कि वेतनभोगी धर्माधिकारी या जज लोग केवल राजकीय न्याय ही नहीं करते थे, बल्कि राजकीय धर्मों या कानूनों का भी निर्वाह करते थे।

§ २१८. तब समुद्र और पृथ्वी के अन्यान्य जलाशयों से जल एकत्र किए जाते हैं और उनके एकत्र करने के समय मंत्रों के साथ उस व्यक्ति के नाम का उच्चारण किया जाता है जिसके अभिषेक के लिये वे जल एकत्र किए जाते हैं। प्रत्येक स्थान से जल लेते समय कहा जाता है—"हे राज-पद देनेवाले जलो, तुम राजत्व के दाता हो। तुम अमुक व्यक्ति को राजत्व प्रदान करो* ।"

जल-संग्रह

---

* स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र ममुष्म दत्त।
शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ४. २१.
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्म देहीति।
शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ४. ६.

जलों के वर्णन और विवरण में राष्ट्र-संघटन के सूचक चिह्नों के साथ काव्य का भी पुट मिला रहता है। इतिहास-प्रसिद्ध सरस्वती, देश की बड़ी बड़ी नदियों तथा समुद्र से जल लाया जाता है। इन समस्त एकत्र किए हुए जलों में उस स्थान की छोटी सी गढ़ी तक का जल मिलाया जाता है। उस छोटी सी गढ़ी से भी यह भव्य प्रार्थना की जाती है—"तुम राजत्व प्रदान करनेवाली हो। अमुक व्यक्ति को राजत्व प्रदान करो।" ब्राह्मण ग्रंथों की इस पवित्र प्रार्थना पर बहुत विस्तृत टीका है और वह टीका विशिष्ट रूप से इसी तुच्छ गढ़ी के लिये है। "वह (जल) प्रजा को स्थिर करता है (गढ़ी का जल स्थिर रहता है) और उसे राजा के प्रति निष्ठ बनाता है*।" जिस देश पर राजा शासन करने को होता है, उस देश का एक साधारण और क्षुद्र जलाशय भी उसकी राजकीय शक्तियों का एक पवित्र साधन या उद्गम बनाया जाता है।

---

* मांदास्थ राष्ट्रदा राष्ट्र मनुष्मं दत्तेति ताभिरभिषिंचति... स्थावरामनपक्रमणीं करोति···।

शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ४. १४. मिलाओ तैत्तिरीय संहिता १. ८. ११।

§ २१९. राष्ट्र के शासन के लिये, लोगों पर शासन करने के लिये (जानराज्याय*) राजा में शासन की शक्ति उत्पन्न कराने के उद्देश्य से देवताओं से प्रार्थना कर चुकने पर भी देश की नदियों, भारत के जलाशयों को राष्ट्रदा या राजत्व प्रदान करनेवाला कहा जाता है और उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे राजा को राजत्व की वास्तविक मर्यादा प्रदान करें। देवता लोग राजा में राष्ट्र का शासन करने की योग्यता या गुण उत्पन्न कर सकते हैं, परंतु वे उसे देश का राजत्व प्रदान नहीं कर सकते। यह अधिकार केवल देश के जलाशयों को प्राप्त है। और वह भी उसी दशा में जब कि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जलाशय के जल एकत्र हों। गाँव की छोटी सी गढ़ी की भी जो इतनी खुशामद की जाती है, उसका यही कारण है। इस धार्मिक कृत्य में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाव है। यद्यपि यह एक पुराना और अनगढ़ लाक्षणिक भाव है, परंतु इसमें समस्त कालों के लिये एक बहुत बड़ा विचार निहित है।

§ २२०. अभिषेचन दोहरा होता है। पहले तो राज्य के भिन्न भिन्न वर्गों या वर्णों के प्रतिनिधि राजा पर एकत्र किए हुए जल छिड़कते हैं; और तब दूसरी बार राज-

---

* देखो तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७. ६. ७.

पुरोहित निर्वाचित राजा के राजसिंहासन या आसंदी पर आरूढ़ होने से पहले अभिषेक करते हैं। मित्रावरुण की वेदी के सामने सिंह की खाल बिछाई जाती है और तब राजा उस पर आरूढ़ होता है। एक एक करके चार आदमी अभिषेक करते हैं। पहला ब्राह्मण होता है; दूसरा निर्वाचित-राजा के कुल या गोत्र का कोई व्यक्ति होता है; तीसरा राजन्य या क्षत्रिय होता है और चौथा वैश्य होता है, जिसका शब्दार्थ है--प्रजा या जनसाधारण में का एक व्यक्ति*। इस अवसर पर शूद्र नहीं रहता; और राजा का सगोत्रिय एक व्यर्थ की पुनरावृत्ति जान पड़ता है (क्योंकि राजन्य वर्ग का व्यक्ति तो अभिषेक करता ही है)। तैत्तिरीय यज्ञ-विधान में राजा के सगोत्रिय का नाम नहीं है (तैत्ति० ब्रा० १. ७. ८.) और उसमें केवल ब्राह्मण के रूप में पुरोहित, राजन्य, वैश्य और जन्य ये चार अभिषेक करते हैं। जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण ८. २६. में कहा है और जैसा कि वास्तव में आरंभ में था, अंतिम जन्य शूद्र के स्थान में है और उसका अभिप्राय है--शत्रु या विरोधी दल का व्यक्ति। इसके परवर्ती कालों में शूद्र भी सदा उपस्थित रहता है।

अभिषेचन

---

* शतपथ ब्रा० ५. ३. ५. ११-१४.

इसके उपरांत निर्वाचित राजा अंदर एक रेशमी वस्त्र और तब उसके ऊपर एक और परिधान धारण करता है और सिर पर उष्णीष या किरीट रखता है*। शतपथ ब्राह्मण में वस्त्र आदि धारण करने का विधान नहीं है और इसके लिये एक ऐसा सुंदर और कलायुक्त कारण बतलाया गया है जो हिंदुओं और यूनानियों में समान रूप से था। वह कारण इस प्रकार है--"शरीर के अंग ही उसके प्राकृतिक परिधान हैं और वस्त्र या ऊपरी परिधान उसे उसके वास्तविक और शारीरिक रूप से वंचित कर देते हैं†।"

§ २२१. इसके उपरांत अधिकार ग्रहण और घोषणा के कृत्य होते हैं। पुरोहित राजा को एक दृढ़ धनुष तथा तीन बाण देता है और उनके उद्देश्य से एक मंत्र का उच्चारण करता है जिसका आशय है--"तू आगे की ओर से राजा की रक्षा कर" आदि। इस कृत्य के उपरांत भी

अधिकार-ग्रहण और घोषणा

---

* कुछ लोग उष्णीष का अर्थ पगड़ी लेते हैं और कुछ लोग किरीट। रामायण में किरीट ही है। युद्ध कांड १२८. ६४.

† शतपथ ब्रा० ५. ३. ५. २५.

राजा भूमि पर सिंह की खाल पर खड़ा रहता है और तब आविद् मंत्रों का उच्चारण होता है* ।

"हे पुरुषो, तुम्हें इस महान् रक्षा (या रक्षक) की सूचना दी जाती है, गार्हपत्य अग्नि को सूचना दी जाती है, सुविख्यात इंद्र को सूचना दी जाती है, व्रत का धारण करने-वाले मित्र और वरुण को सूचना दी जाती है, धन के देवता पूषा को सूचना दी जाती है। कल्याणकारी आकाश और पृथ्वी को सूचना दी जाती है, अदिति को सूचना दी जाती है।"

शतपथ ब्राह्मण बतलाता है कि ये घोषणाएँ कुछ विशिष्टताओं की सूचक होती हैं† । अग्नि ब्राह्मणों का सूचक है, इन्द्र राज्य के प्रमुख पुरुषों का सूचक है, पूषा पशु जगत् का सूचक है और इसी प्रकार और सब भी किसी न किसी के सूचक हैं। दूसरे आविदों का चाहे और जो कुछ वास्तविक महत्त्व हो, पर इसमें संदेह नहीं कि निर्वाचित

---

* वाजसनेयी संहिता १०. ९.

आविर्मर्य्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रोवृद्ध-श्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥

† शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ५. ३१–३७.

राजा के संबंध का पहला आविद् या घोषणा लोगों अथवा प्रजा के प्रति होती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि ये आविद् या घोषणाएँ राज्याभिषेक के लिये अनुमति प्राप्त करने के उद्देश्य से होती हैं—"तैरनुमतः सूयते," और अनुमति पाकर वह राज्याभिषिक्त होता है।

——

पचीसवाँ प्रकरण

ब्राह्मण काल का राज्याभिषेक और उसका संघटनात्मक महत्त्व (क्रमागत)

§ २२२. आवित्-घोषणा के उपरांत पवित्र अभिषेक का इंद्र-कृत्य होता है (शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ५. २.)

राज्यारोहण का व्रत या शपथ

निर्वाचित राजा के राज-सिंहासन पर बैठने से पूर्व सर्व-सम्मति से यही समझा जाता है कि राजा ने व्रत धारण किया है—वह धृत-व्रत हुआ है*। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१. ७. १०. १–६) में इन व्रतों या प्रतिज्ञाओं का फिर इस प्रकार उल्लेख आया है—"सत्य-सव" या सच्चा त्याग, "सत्य-धर्म" या शुद्ध (अथवा निष्ठ) आचरण; "सत्यानृते वरुणाः" सत्य (या शपथ) और अनृत (या असत्य अथवा अनिष्ठता) के अधिकारी (या देवता) वरुण हैं और "सत्य-राजा"

---

* निषसाद धृतव्रतः। वाजसनेयी संहिता १०. २७. तैत्तिरीय संहिता १. ८. १६. तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७ १०.२. ऐतरेय ब्राह्मण ८. १८.

अथवा सच्चा राजा। बार बार के इस प्रकार के कथनों का क्या अभिप्राय है? इस स्थान पर उस व्रत या प्रतिज्ञा का उल्लेख नहीं किया गया है; परंतु ऐतरेय ब्राह्मण के इंद्र-कृत्य के विधान में वह दिया गया है। जैसा कि परवर्ती ग्रंथों और प्रथाओं से प्रमाणित होता है, यह कृत्य सभी स्थानों और देशों में किया जाता था। इसी लिये दूसरे ब्राह्मणों में इसका उल्लेख मात्र कर दिया गया हैं और उद्धरण देकर इनकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है। निर्वाचित राजा जो व्रत धारण करता था, अथवा आज-कल की कथन-प्रणाली के अनुसार राज्याभिषेक के समय वह जो शपथ करता था, वह ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार दी गई है*—

"[इंद्र-यज्ञ के इस महान् राज्याभिषेक के द्वारा क्षत्रिय व्रत ग्रहण करे। वह शुद्ध भाव से उच्चारण करे।] 'रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और मैं रात्रि में ही मरूँ, यदि

[एतेनैंद्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् स ब्रूयात् सह श्रद्धया] याञ्च रात्रीमजायेहं याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमंतरेणेष्टापूर्त्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येमिति। ऐतरेय ब्राह्मण ८. १५.

मैं तुम्हें पीड़ित करूँ तो मैं अपने समस्त शुभ कर्मों, अपने स्वर्ग, जीवन और अपने वंश से वंचित होऊँ।"

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इस व्रत या प्रतिज्ञा का स्वरूप बिलकुल पणात्मक है; अर्थात् इसमें एक प्रकार की शर्त की जाती है; और ऐसा जान पड़ता है कि वास्तव में कुछ काम करने के उद्देश्य से ही यह प्रतिज्ञा की जाती है। इस व्रत में किसी प्रकार के दैवी साधन आदि का कोई उल्लेख नहीं है। यह शुद्ध मानव है और इसमें हृदय की वैसी ही मानव शुद्धता और सत्यता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यह व्रत सभी प्रकार के शासन-विधानों में ग्रहण किया जाता था। राज्य का शासन चाहे जिस प्रकार का होता, राजा साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य. पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य या सार्वभौम चाहे जिस प्रकार की शासन-प्रणाली के लिये अभिषिक्त होने को होता, सभी दशाओं में उसे यह व्रत ग्रहण करना पड़ता था*। हमें इस समय राज्याभिषेक

---

* स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समंतपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष

के व्रत या शपथ के इतिहास और प्रभाव का ही विवेचन करना है; इसलिये हम अभी अन्यान्य कृत्यों और उनके तात्पर्य आदि का विचार छोड़ देते हैं।

§ २२३. आविद् या घोषणा के उपरांत राजा काठ के सिंहासन* (आसंदी) पर आरूढ़ होता है, जिस पर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है। इस अवसर के लिये चार मंत्र हैं और उनके द्वारा चारों वर्णों के प्रतिनिधियों से निर्वाचित राजा की, बहुमूल्य कोष की भाँति, रक्षा करने के लिये कहा जाता है।

सिंहासनारोहण

आऽन्तादापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यंताया एक-राडिति तमेते-नैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिंचेत् ॥

ऐतरेय, ८. १५.

* आगे चलकर जब हाथी-दाँत और सोने के सिंहासन बनने लगे थे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था। देखो महाभारत (कुंभ०) शान्तिपर्व, ३६. २. ४. १३-१४. यद्यपि वह (खदिर की) लकड़ी का बनता था, परंतु जैसा कि ब्राह्मणों के विवरण से जान पड़ता है, विस्तृत और विशाल हुआ करता था। यज्ञों में भरतों के सिंहासन की बनावट या तर्ज प्रसिद्ध है।

§ २२४. वैधानिक दृष्टि से यह बात सबसे अधिक महत्त्व की है कि राज्य के चारों वर्णों के द्वारा राजा की रक्षा होती है। अपने पद पर प्रजा द्वारा रक्षित होकर वह शासन-कार्य करता है। हिंदू राजनीति में यह एक सर्वमान्य और निश्चित सिद्धांत था—राष्ट्रेण राजा व्यसने परिरक्ष्यस्तथा भवेत्*।

"हे राजन्! तू पूर्व में आरोहण कर, वसंतु ऋतु और ब्रह्मण्य तेरी, उस बहुमूल्य कोष की, रक्षा करें। तू दक्षिण में आरोहण कर; क्षत्र तेरी, उस बहुमूल्य कोष की, रक्षा करें। तू पश्चिम में आरोहण कर; विश् तेरी, उस बहुमूल्य कोष की, रक्षा करे। तू उत्तर में आरोहण कर; फलां† तेरी, उस बहुमूल्य कोष की, रक्षा करे।

उससे दिशाओं में आरोहण करने के लिये कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसका राज्याभिषेक सभी दिशाओं से हो रहा है।

§ २२५. सिंहासन पर आरूढ़ होने से पहले निर्वाचित राजा सोने के एक पत्तर पर पैर रखता है। उस पत्तर में

---

* महाभारत शांतिपर्व १३०. ३२. (कुंभकोणम्)

† जान पड़ता है कि इस शब्द का व्यवहार शूद्र के लिये हुआ है।

सौ अथवा नौ छिद्र होते हैं। उसी पत्तर के छेदों में से पुरोहित राजा के सिर पर जल का अभिषेक करता है। उस समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है*।

पुरोहित द्वारा अभिषेक

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा इन्द्रस्येन्द्रियेण।

क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यतिदिद्यून् पाहि ॥ २ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवद्धम् महते क्षत्राय।

महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वो।

ऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥

"सोम के वैभव से मैं तुझे अभिसिंचित करता हूँ, अग्नि के तेज से, सूर्य के प्रताप से, इंद्र के बल से, मैं तुझे अभिसिंचित करता हूँ। तू क्षत्रपतियों का क्षत्र-रक्षक हो।"

---

* ये मंत्र वाजसनेयी संहिता (शुक्ल यजुर्वेद) ६. ५. ४० और १०. ५. १७-१८ में आए हैं। संहिता के इन दोनों अध्यायों में राज्याभिषेक के लिये मंत्र दिए गए हैं, जिनसे ब्राह्मणों के अन्यान्य कृत्यों या विधानों का विकास हुआ है।

"हे देवताओ, अमुक पुरुष तथा अमुक स्त्री के पुत्र और अमुक विश् या प्रजा के स्वामी को तुम क्षात्र धर्म के लिये, महत्ता के लिये, विशाल राष्ट्रीय शासन के लिये और इंद्र के बल के लिये अनुपम बनाओ। हे प्रजा-वर्ग के लोगो, यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है; यह हम ब्राह्मणों का सोम है।"

आपस्तंब, बौधायन और कात्यायन (सायण द्वारा उधृत श्रौत सूत्रों) के अनुसार विश् का अर्थ है—राष्ट्र अथवा राज्य की समस्त प्रजा। यथा भरत, कुरु या पांचाल आदि। कात्यायन ने विश् का अर्थ "जाति" किया है। उसकी कल्पना थी कि आरंभ में राज्य की सीमा अनिश्चित या अनवस्थित थी; इसी लिये विश् शब्द का व्यवहार होता था। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता (१. ८. १०.) में विश् के स्थान में "हे भरतो!" (एष वो भरता राजा) कहा गया है, जिससे सिद्ध होता है कि श्रौत सूत्रकारों का अर्थ ठीक है। जान पड़ता है कि यजुर्वेद की रचना भरत राज्य (दिल्ली-आगरा) में हुई थी।

§ २२६. सोम समस्त वनस्पतियों का जीवन-दाता है*। ब्राह्मणों का संबंध सोम से था, इसलिये सोम का देवता ही

---

† वाजसनेयी संहिता ६. ५. ३६।

ब्राह्मणों का भी देवता माना जाता था। राजा का राज्याभिषेक समस्त विश् या प्रजा के राजा के रूप में होता है, जिसमें ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं;

ब्राह्मण और कर

और पुरोहित उसे सोम कहकर यह भाव व्यंजित करता है*। ऊपर वेद का जो उद्धरण दिया गया है, शतपथकार ने उसके अंतिम वाक्य की एक विवादास्पद और विचारणीय व्याख्या दी है। वह कहता है कि इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों का राजा वह निर्वाचित राजा नहीं है, बल्कि सोम है। परंतु मूल में जो एष (इस) शब्द है, और उसके साथ विश् या राष्ट्र का जो नाम लिया जाता है, तथा ब्राह्मण अधीनता सूचित करने के समय अपने जो अधिकार राजा को देता है, उसके साथ उस व्याख्या की संगति नहीं बैठती* ।

---

* देखो आगे (§ २३०) अभिनंदन या अधीनता-स्वीकृति का प्रसंग, जहाँ राजा को ब्राह्मण और समस्त प्रजा के बल से बलिष्ठ कहा गया है। साथ ही मिलाओ पुरोहित द्वारा राजा को संबोधन—"तू ब्राह्मण है, तू सविता है, तू वरुण है," इत्यादि। (वाजसनेयी संहिता ८.२८) और यहाँ का 'सोम' शब्द।

शतपथ वास्तव में ब्राह्मण-काल के अंत का है; और जान पड़ता है कि पुरोहित ब्राह्मण लोग उस समय तक यह कहने लग गए थे कि राजा को हम ब्राह्मणों से कर लेने का अधिकार नहीं है। शतपथ में कहा है कि इस अपवाद का अभिप्राय यह है कि राजा को अपनाकर ब्राह्मणों के अतिरिक्त और सब लोगों से लेना चाहिए*। ऐतरेय ब्राह्मण से सूचित होता है कि ब्राह्मण पूर्ण रूप से राजा के अधीन है† और यही बात जातकों से भी सूचित होती है। वाजसनेयी ब्राह्मण उपनिषद्, जो कि शतपथ की शाखा का है, ब्राह्मण को राजा के अधीन बतलाता है। (तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तुपास्ते राजसूये।) क्षत्र या राजा के ऊपर कोई नहीं है, इसी लिये राजसूय में ब्राह्मण को क्षत्रिय से नीचे बैठना पड़ता है। (४. २.) तैत्तिरीय शाखा शतपथ का यह अर्थ नहीं मानती। भट्ट भास्कर इस वैदिक मंत्र का यह अभिप्राय बतलाते हैं कि ब्राह्मण कभी बिना राजा के नहीं रहना चाहिए; इसी लिये जब तक

---

* शतपथ ब्राह्मण ५. ४. २. ३. तदस्माऽ इद७ँसर्वमाद्यं करोति ब्राह्मणमेवापोद्धरति तस्माद् ब्राह्मणो नाद्यः सोमराजा हि भवति।

† ऐतरेय ब्राह्मण ७. २६.

राजा का राज्याभिषेक न हो, तब तक के लिये वह सोम के अधीन माना जाता है; और जब राजा का राज्याभिषेक हो जाता है, तब राजा उसका भी राजा हो जाता है। (अस्माकं ब्राह्मणानां सोमो राजा, अधुना अयं चेति। सर्वदा सराजका वयं इत्यभिप्रायः।) (तैत्तिरीय वेद, मैसूर, ३. पृ० १५७-५८.) ऐतरेय का यह आशय है कि वह ब्राह्मणों और धर्म का रक्षक हो जाता है (८. १२)। शतपथ-कार का दावा केवल यहीं तक परिमित है कि ब्राह्मण लोग कर देने से मुक्त हैं। वशिष्ठ ने अपने धर्मशास्त्र (१. ४५.)*

---

* राजा तु धर्मेणानुशासत्षष्ठं धनस्य हरेत् ॥ ४२ ॥
"जब राजा धर्म के अनुसार शासन करता हो, तब उसे धन का छठा अंश लेना चाहिए।" अन्यत्र ब्राह्मणात् ॥४३॥ "ब्राह्मणों को छोड़कर।" इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमंशं भजतीति ह ॥ ४४ ॥ "क्योंकि वह अपने सत्कर्मों या पुण्यों का छठा अंश देता है।" ब्राह्मणो वेदमाढ्यं करोति ब्राह्मणो आपद उद्धरति तस्माद्ब्राह्मणो नाद्यः। सोमोऽस्य राजा भवतीति ह ॥ ४५ ॥ "ब्राह्मण वेदों की वृद्धि करते हैं, ब्राह्मण आपत्ति से उद्धार करते हैं; इसलिये ब्राह्मणों पर कर नहीं लगना चाहिए। वस्तुतः (शतपथ के अनुसार) सोम उनका राजा होता है।"

में शतपथ के भाष्य के आधार पर यह एक नियम ही बना दिया है कि ब्राह्मण पर कर नहीं लगाना चाहिए; और इसके लिये एक और कारण यह भी दिया है कि वह अपने सत्कर्मों या पुण्य का छठा अंश राजा को देता है (१.४४.)। जान पड़ता है कि आरंभ में वैदिक ब्राह्मणों को कर से मुक्त करने के प्रश्न पर धर्मशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों में मतभेद था। अर्थशास्त्री या राजनीतिज्ञ उनका यह दावा नहीं मानते थे। मानव अर्थशास्त्र (जिसका उल्लेख महाभारत में भी प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में हुआ है, परंतु जो अभी तक कहीं मिला नहीं है) का उद्धरण सोमदेव ने अपने नीतिवाक्यामृत (अ० ७) में दिया है जिसका आशय यह है कि जो लोग वनों में रहकर तपस्या करते हैं अथवा जो उंछशील हैं (अर्थात् खेतों में गिरा हुआ अन्न एकत्र करके अपना निर्वाह करते हैं), वे भी उसका छठा अंश राजा को देते हैं। यह उसका अंश है जो उनकी रक्षा करता है। (उंछ षड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं सम्भावयन्ति। तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति इति ॥) जान पड़ता है कि अंत में इसका निर्णय यही हुआ था कि केवल पुरोहित ब्राह्मण कर से मुक्त है। महाभारत* (शांतिपर्व ७६. ५.)

* अश्रोत्रियाः सर्वे एते सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान्सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥
महाभारत शांतिपर्व ७६. ५।

में कहा है कि जो ब्राह्मण वैदिक पुरोहित नहीं हैं, उनके लिए राजकर दातव्य है। मनु के धर्मशास्त्र (७.१३३.)* में भी यही कहा है कि केवल वैदिक पुरोहित या श्रोत्रिय ही राजकर से मुक्त हैं।

वशिष्ठ आदि धर्मशास्त्रियों ने राज्याभिषेक-संबंधी मंत्रों आदि का जो विवेचन किया है, उससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन हिंदू लोग इन कृत्यों तथा मंत्रों आदि के राज-संघटन संबंधी स्वरूप और प्रभाव से परिचित थे। धर्म-शास्त्रकार उन्हें राष्ट्र के संघटन के विधानों आदि का आधार मानते थे।

राजपद-दान

§ २२७. तीन सीढ़ियों के उपरांत वह काठ के सिंहासन पर चढ़ता है; और वाजपेय यज्ञ की भाँति इसमें भी उसे संबोधित करके नीचे लिखे राष्ट्र-विधान संबंधी वाक्य, जो संहिता से लिए गए हैं, कहे जाते हैं—

इयं ते राट्।......यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥†

---

* म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। मानव धर्मशास्त्र ७. १३३।

† शतपथ ५. २. १. २५।

(१) "तुझे यह राष्ट्र या राज्य दिया जाता है, (२) तू संचालक और नियामक है; तू ध्रुव (दृढ़) और धारण करनेवाला (इस राज्य या उत्तरदायित्व का) है; (३), तुझे (यह राज्य दिया जाता है) कृषि के लिये, क्षेम के लिये, संपन्नता के लिये, पोषण या वर्द्धन के लिये ।" जब पहला वाक्य कह चुकते हैं, तब वह बैठा दिया जाता है ।

आध्यात्मिक भाष्यकार ने इस बात पर जोर दिया है* कि इसी मंत्र के आधार पर मनुष्य को राजत्व प्राप्त होता है। इसके द्वारा उसे राजकीय अधिकार प्राप्त होता है। "तुझे यह राष्ट्र या राज्य दिया जाता है" यह वाक्य राज्याभिषेक के समय कहे जानेवाले समस्त वाक्यों में सबसे अधिक पवित्र और महत्त्वपूर्ण है। इसका इतना अधिक प्रबल और गंभीर परिणाम होता है कि एक मनुष्य को राज-पद प्राप्त हो जाता है। हिंदू एकराजता के इतिहास में ब्राह्मणकार की यह स्पष्ट व्याख्या बहुत ही अधिक महत्त्व की है। एकराजता का मुख्य आधार यही राज-पद-प्रदान का पवित्र कृत्य है, न कि उत्तराधिकार आदि का और कोई सिद्धांत।

जिस उद्देश्य से राज्य दिया जाता है, उसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है—"कृषि के लिये, क्षेम के लिये,

---

* शतपथ ५. २. १. २५ ।

संपन्नता के लिये, पोषण या वर्द्धन के लिये।" और सब मिलाकर संक्षेप में यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"सब प्रकार की सुख-संपन्नता के लिये।" जैसा कि भाष्यकार ने "साधवे त्वा" से इसकी व्याख्या की है। यह कोई उपहार नहीं है, बल्कि एक धरोहर या थाती है और यह परम पवित्र कृत्यों के द्वारा सौंपी जाती है।

इस धार्मिक कृत्य में जो भाव निहित है, वह पूर्ण रूप से मानव है। अमुक पुरुष तथा अमुक स्त्री का पुत्र अमुक अमुक प्रजा का राजा बनाया जाता है। उसकी नियुक्त किसी दैवी विभूति के द्वारा नहीं होती। वह मनुष्य के द्वारा ही नियुक्त होता है और मनुष्य के ही द्वारा उसका राज्याभिषेक होता है। जिस प्रकार और सब कामों में देवताओं से सहायता माँगी जाती है, उसी प्रकार उसकी सहायता करने के लिये भी देवताओं से प्रार्थना की जाती है। परंतु वे देवता उसे राज्य नहीं देते। राज्य-प्रदान का कार्य तो मनुष्यों के द्वारा होता है; और यह भाव इन शब्दों से व्यक्त किया जाता है—"तुझे यह राज्य दिया जाता है।"

§ २२८. ये वाक्य संहिता के अ० ६, मंत्र २२ से लिए गए हैं। मूल मंत्र का आरंभ मातृ-भूमि के नमस्कार से होता है। (नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या...) और निर्वाचित राजा को वही मातृभूमि राज्य या राजत्व के रूप में बतलाई जाती है। शतपथ के जो आधुनिक

संस्करण हैं, उनमें 'पोषाय त्वा' के उपरांत एक मध्यवर्ती 'इति' के साथ 'साधवे त्वा' शब्द भी मिलते हैं। संहिता से पता लगता है कि ये शब्द मूल पाठ में के नहीं हैं। जान पड़ता है कि शतपथकार ने इन शब्दों का व्यवहार व्याख्या के रूप में किया है।

§ २२६. अब हम अभिषेक के उपरांत होनेवाले कुछ ऐसे कृत्यों का विवेचन करते हैं जो अपेक्षाकृत कम महत्त्व के और कुछ कम आवश्यक हैं।

अभिषेक के उपरांत के कृत्य

अब व्रत-धारी सिंहासन पर से नीचे उतरता है और जंगली सूअर के चमड़े के जूते पहनता है*। और तब चार घोड़ों के रथ पर चढ़कर कुछ दूर तक जाता है†। राजा के राज्याभिषिक्त होने के उपरांत उसकी जो सवारी निकलती है, हिंदुओं में उसका मूल यही जान पड़ता है। और आगे चलकर जिस समय रामायण की रचना हुई थी, उस समय इसने बहुत विशाल और विस्तृत रूप धारण किया था।

राजा तुरंत ही लौटकर राजसिंहासन के पास आता है; और जब वह उस पर आरोहण करता है, तब पुरोहित

---

* शतपथ ब्रा० ५. ४. ३. १९.

† शतपथ ब्रा० ५. ४. ४. २३. आदि।

कहता है—"तू इस सुखद और कोमल सिंहासन पर बैठ*।" इसके उपरांत एक बहुत ही विलक्षण कृत्य होता है। एक डंडे से बहुत कोमलतापूर्वक राजा की पीठ को स्पर्श किया जाता है†। यह डंडा न्यायदंड का सूचक होता है। इससे यह भाव सूचित होता है कि राजा धर्म या कानून के ऊपर नहीं है, बल्कि वह भी उसके अधीन है‡। इस कृत्य का जो अभिप्राय बतलाया गया है, वह बहुत ही मनोरंजक और श्रुतिमधुर है। भाष्यकार ने कहा है कि यह कृत्य इसलिये किया जाता है कि इसके द्वारा राजा का शरीर या व्यक्तित्व दंड-वध से परे हो जाता है, (अर्थात् उसे वध का दंड नहीं दिया जा सकता)।

अधीनता-स्वीकृति

§ २३०. अभिषेक के उपरांत जो कृत्य होते हैं, उनमें से कर्म-कांड की दृष्टि से भी और राष्ट्र-विधान की दृष्टि से भी वह कृत्य सब से अधिक महत्त्व का होता है जिसमें लोग राजा की अधीनता स्वीकृत करते हैं। इसके लिये कुछ निश्चित विशेषणों से

---

* शतपथ ब्रा० ५. ४. ४. ४.

† शतपथ ब्रा० ५. ४. ४. ७. अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दंडैर्घ्नन्ति। त दंडैर्घ्नन्तो दंडवधमति नयन्ति तस्माद्राजा दंड्यो यदेनं दंडवधमतिनयन्ति।

‡ मिलाओ मनु, ७।

युक्त मंत्र आदि हैं जो श्रुति-साहित्य में सब जगह प्रायः एक ही रूप में पाए जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि धार्मिक दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा बंधन और आवश्यक कृत्य था और फलतः इसका बहुत अधिक महत्त्व था।

§ २३१. राजा सिंहासन पर बैठता है और उसके नीचे चारों ओर से उसे घेरकर सब रत्नी, राज्य के स्तंभ ब्राह्मण, ब्राह्मण पुरोहित, सरदार, ग्रामणी तथा अन्य लोग बैठते हैं। सब से पहले ब्राह्मण लोग राजा की अधीनता स्वीकृत करते हैं। ये ब्राह्मण दो हैसियतों से होते हैं। एक तो ब्राह्मण वर्ण की हैसियत से रत्नियों की सभा के सदस्य और दूसरे पुरोहित की हैसियत से। इन वर्णों आदि के अधीनता स्वीकृत करने से पहले राजा पृथ्वी की अधीनता स्वीकृत करता है। वह कहता है—

पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीर्माऽअहं त्वाम्।

अर्थात्—हे पृथ्वी माता, न तो तुम मुझे कष्ट पहुँचाओ और न मैं तुम्हें कष्ट पहुँचाऊँ। भाष्यकार का कथन है कि यह कृत्य इसलिये किया जाता है कि जिसमें पृथ्वी कहीं उसे पद-भ्रष्ट न कर दे*।

---

* शतपथ ब्रा० ५. ४. ३. २०. मेयं नावधून्वीत। शतपथकार के अनुसार पृथ्वी या देश और राजा में मित्रता

इस कृत्य के आरंभ में राजा ब्राह्मण को संबोधित करके कहता है—"हे ब्राह्मण!" परंतु ब्राह्मण उसे बीच में ही रोककर कहता है*—"तू ब्राह्मण है, तू सच्चा बलशाली वरुण है"—"तू ब्राह्मण है और समस्त विश् के बल से बलिष्ठ है†।" राजा पाँच बार पाँच ब्राह्मणों और पुरोहितों को इसी प्रकार सम्मानपूर्वक संबोधन करने का प्रयत्न करता है; और हर बार वे पुरोहित और ब्राह्मण अपना वह सम्मान राजा को देते हैं†; और कहा जाता है कि राजा सबका

का संबंध स्थापित हो जाता है; "और माता न तो अपने पुत्र को पीड़ा पहुँचाती है और न पुत्र माता को पीड़ा पहुँचाता है।" नहि माता पुत्रꣳहिनस्ति न पुत्रो मातरम्। Eggelling, S. B. E. खं० ४१. पृ० १४३।

* वाजसनेयी संहिता १०. २८. तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७. १०।

† इसका यह भाव जान पड़ता है कि अब ब्राह्मण इस प्रकार श्रेष्ठता-सूचक शब्दों में संबोधित नहीं किया जा सकता। समस्त राष्ट्र द्वारा, जिसमें ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं, राजा को जो श्रेष्ठ पद दिया जाता है, उसके कारण हिंदू राजा कानून या धर्म और संघटन-विधान दोनों की दृष्टि से सब वर्णों और जातियों से श्रेष्ठ हो जाता है।

स्वामी और (समस्त विश् के बल से) समस्त राष्ट्र या प्रजा का प्रतिनिधि है।

तब राजा को, जो प्रजा की समृद्धि का वर्द्धन करनेवाला होता है* कोई ब्राह्मण या पुरोहित एक बलिदानवाली तलवार देता है† । यह तलवार राजा अपने अधिकार के चिह्न-स्वरूप राज्य के समस्त अधिकारियों और ग्रामणियों को देता है और उन लोगों से उन्हीं निष्ठापूर्ण शब्दों में, जो पहले ब्राह्मण कहता है, सहयोग करने के लिये कहता है—"इसके द्वारा मेरी ओर से शासन करो (तेन मे राध्य) । यह वाक्य श्लिष्ट है। इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है—इससे मेरी सेवा करो (तेन मे राध्य)‡ । इस पिछली दशा में दूसरा अर्थ ही अभिप्रेत है। सहयोग करने की यह आज्ञा सजात या राष्ट्र के व्यक्तिगत सदस्य और अंग को भी दी जाती है+ ।

---

* शतपथ ब्राह्मण ५. ४. ४. १४. इसका शब्दार्थ है—'बहुत काम करनेवाला, अच्छा काम करनेवाला, अधिक काम करनेवाला'।

† शतपथ ब्राह्मण ५. ४. ४. १५.

‡ इस श्लेष को न समझने के कारण शतपथकार-(५. ४.४. १५ से १६) भी चकरा गए हैं।

+ नजर में बहुमूल्य पदार्थ लेने और उनके बदले में अच्छे अच्छे पदार्थ पुरस्कार-स्वरूप देने की जो प्रथा बाद

नवीन राजा का कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह प्रमाणित करने के लिये कि पाँसे के खेल की तरह राज्य का शासन भी एक ऐसा ही कार्य है जो किसी अकेले आदमी से नहीं हो सकता, वह रत्नियों से पाँसे का खेल खेलने के लिये कहता है जो वास्तव में एक दूसरे ही भाव का सूचक होता है। इसमें दाँव पर एक गौ लगाई जाती है जो विशेषतः उसी अवसर के लिये समाज का कोई साधारण सदस्य लाता है*। राज्य-शासन के इस बड़े खेल में, जो राजा और उसके मंत्री खेलने को होते हैं, वह पवित्र पशु दाँव पर लगाया जाता है। दाँव पर लगाई हुई यह चीज समाज के परम दीन व्यक्ति की संपत्ति होती है। वह दीन नागरिक अपनी यह संपत्ति बहुत ही प्रसन्नता-पूर्वक राजा की भेंट करता है। उन खेलनेवालों को यह संपत्ति एक सजात के द्वारा सौंपी जाती है, जिसका

शासन का सूचक खेल

में चली थी और जो मुगल बादशाहों के समय तक बराबर जारी रही, उसका हमारे यहाँ के इन पुराने विधानों में कहीं नाम भी नहीं था।

* शतपथ ब्राह्मण ५. ४. ४. २०-२५.

अभिप्राय है—वह व्यक्ति, जो खेलनेवालों के साथ उत्पन्न हुआ हो; अथवा जैसा कि सायण ने बतलाया है—समान जन्मवाला, अर्थात् राष्ट्र या प्रजा का व्यक्ति या अंग। इन भौतिक चिह्नों में राष्ट्र-विधान का भाव भरा हुआ है। इसमें कर्तव्य के साथ करुणा या दया भी सम्मिलित है। यहाँ द्रव्य के अंदर गूढ़ भाव भरा हुआ है।

§ २३३. हिंदू राज्याभिषेक में जो मुख्य मुख्य कृत्य होते थे, वे सब पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिए गए हैं। स्पष्टता के लिये इन सब के भाव आधुनिक भाषा में नीचे के कुछ वाक्यों में व्यक्त किए जा सकते हैं—

सारांश

(१) हिंदू एकराजता एक मानव संस्था थी, उसमें केवल मानव भाव था।

(२) हिंदू एकराजता का आधार निर्वाचन था*। और निर्वाचक समस्त प्रजा हुआ करती थी।

(३) हिंदू एकराजता का आधार परस्पर के कुछ पण या शर्तें हुआ करती थीं।

---

* एक छोटे यज्ञ-कृत्य में निर्वाचित राजा के एक लड़के का भी थोड़ा काम पड़ता है। (शतपथ ५. ४. २. ८.) परंतु कृष्ण यजुर्वेद में उस स्थान पर उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

(४) हिंदू एकराजता राज्य का एक पद या ओहदा था और उस पद पर रहनेवाले को राज्य के अन्यान्य पदाधिकारियों के सहयोग से काम करना पड़ता था।

(५) हिंदू एकराजता एक प्रकार की धरोहर या थाती थी, जिसमें देश की समृद्धि और उन्नति राजा के हाथ में सौंपी जाती थी* ।

---

* इसके थोड़े ही समय के उपरांत उपनिषद् काल में राजकीय शासन का एक और नया कर्तव्य निश्चित किया जाता है। वह कर्तव्य इस प्रकार है कि प्रजा की केवल आर्थिक या भौतिक उन्नति ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि नैतिक उन्नति भी होनी चाहिए। जब पाँच बड़े बड़े अध्यात्मवादी ऋषि केकय के राजा अश्वपति के यहाँ गए थे, तब राजा ने बहुत समाधानपूर्वक कहा था--

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
न नाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरो स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात्--"मेरे राज्य में कोई चोर, कायर, मद्यप, घर में होम की पवित्र अग्नि न रखनेवाला या व्यभिचारी नहीं है और व्यभिचारिणी की तो बात ही क्या है।" (छांदो० उप० ५. ११. ७.) यहीं से उस सिद्धांत का आरंभ होता है जो आगे चलकर निश्चित नियम सा हो गया था और

(६) हिंदू एकराजता किसी प्रकार की मनमानी या स्वेच्छाचारिता नहीं थी।

(७) हिंदू एकराजता कानून या धर्म से बढ़कर नहीं थी, बल्कि उसके अधीन थी।

(८) हिंदू एकराजता मुख्यत: राष्ट्रीय और गौणतः सीमा संबंधी थी* अर्थात् पहले राष्ट्र या प्रजा के विचार से ही राज्य हुआ करते थे, सीमा के विचार से नहीं।

राष्ट्र-विधान की इस प्रकार की भावना हमारे दार्शनिक पूर्वपुरुषों के उपयुक्त ही थी। हिंदू जनता सदा केवल परलोक की ही चिंता नहीं करती थी। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसमें हमें रक्त और मांस, रगों और पट्ठों के अथवा सांसारिक हिंदू दिखाई पड़ते हैं। निश्चय ही यह वह तुच्छ चित्र नहीं है जो उन्हें ऐसे अध्यात्मवादी दुर्बलों के अपवित्र समूह के रूप में प्रकट करता है, जो हवा के तेज झोंके के सामने झुक जाते हैं और उसके निकल जाने पर फिर विचार-मग्न हो जाते हैं।

जिसके अनुसार राजा का राजकीय शासन ही लोगों की नैतिक अवस्था के लिये उत्तरदायी होता था और अच्छे-बुरे सभी अवसरों पर वह उत्तरदायी माना जाता था।

* देखो ऊपर "अमुक अमुक प्रजा का राजा" और जलों का संचय तथा पृथ्वी को नमस्कार करने के कृत्य।

§ २३४. ब्राह्मण ग्रंथ वंशानुक्रमिक उत्तराधिकार नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक राजा का इसी प्रकार राज्याभिषेक होना चाहिए; और पहले कृत्यों में राज्यारोहणों का कोई जिक्र नहीं होता था। इसका कारण यही है कि इसका मूल वैदिक काल से ही चला आता था, जब कि राजा का निर्वाचन ही हुआ करता था। वास्तव में, और सिद्धांत के अनुसार भी, ब्राह्मण काल तक हिंदू एकराजता वंशानुक्रमिक नहीं हुई थी। इस बात का भी पता चलता है कि वंशानुक्रमणवाले सिद्धांत का उद्‌गम क्या था। एक शाखा का मत यह था कि यदि केवल निर्वाचित राजा के जीवन भर के लिये ही राज्याभिषेक अभीष्ट हो, तो व्याहृति के केवल पहले शब्दांश भूः का उच्चारण करना चाहिए; यदि दो पीढ़ियों के लिये अभीष्ट हो तो दो शब्दांशों या भूर्भुवः का उच्चारण करना चाहिए; और यदि तीन पीढ़ियों के लिये अभीष्ट हो तो भूर्भुवः स्वः कहकर पूरे मंत्र का उच्चारण करना चाहिए*। जैसा कि

वंशानुक्रमिक उत्तराधिकार तब तक नहीं था

* ऐतरेय ब्राह्मण ८. ७।

भूरिति य इच्छेदिममेव प्रत्यन्तमद्यादित्यथ य इच्छेद द्विपुरुषं भूर्भुव इत्यथ य इच्छेत्त्रिपुरुषं वाऽप्रतिमं वा भूर्भुवः स्वरिति।

साथ ही मिलाओ ८. १२. में राजानम् राजपितरम्।

ऐतरेय ब्राह्मण से सूचित होता है, यह याज्ञिकों की एक शाखा का मत था। खारवेल के शिलालेख में इस सिद्धांत का एक ऐतिहासिक उल्लेख पाया जाता है जिसमें एक पीढ़ी के लिये राज्याभिषेक का जिक्र है* और जिससे स्वभावतः यह अभिप्राय निकलता है कि एक से अधिक पीढ़ियों के लिये भी राज्याभिषेक हो सकता था। वंशानुक्रमिक एक-राजता की प्रवृत्ति का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२. के राजानम् राजपितरम् (राजा और राजा का पिता) पद से भी होता है; परंतु स्वराज या विराज नामक प्रजातंत्री राजा के नाम के साथ इस प्रकार का कोई विशेषण नहीं लगाया जाता। फिर भी आरंभ में जो यज्ञ और विधान आदि निश्चित किए गए थे, वे एक ही पीढ़ी के लिये थे; और यद्यपि आगे चलकर एकराजता वंशानुक्रमिक हो गई थी, तथापि एक पीढ़ी के राज्याभिषेक की प्रथा सदा के लिये चल गई थी।

§ २३५. इस काल का विवेचन समाप्त करने के पहले हमें उस पवित्र विधान पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए जो राज्यच्युति का सूचक था। शुक्ल यजुर्वेद (१६ से २१) में सौत्रामणि यज्ञ का विधान दिया गया है जो राजच्युत

---

* J. B. O. R. S. ३. ४१।

राजा को करना पड़ता था। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार पदच्युत राजा के लिये सौत्रामणि यज्ञ का विधान किया गया है*। उस समय भी राजच्युति उसी प्रकार प्रचलित थी, जिस प्रकार पहले के वैदिक काल में प्रचलित थी। परवर्ती कालों में उसका जो अस्तित्व था, वह पुराने इतिहास से स्वीकृत और समर्थित था।

——

---

* सोमो वा एतस्य राज्यमादत्ते।
यो राजा सन्राज्यो वा सोमेन यजते ॥
देवसुवामेतानि हवीꣳषि भवन्ति।
एतावन्तो वै देवानाꣳसवाः ॥
त एवास्मै सवान् प्रयच्छन्ति।
त एनं पुनस सुवन्ते राज्याय ॥
देवसु राजा भवति।

तैत्तिरीय ब्राह्मण १.४.२. साथ ही देखो उस पर सायण का भाष्य (आनंदाश्रमवाला, पहला संस्करण), पृ० १७६।

छब्बीसवाँ प्रकरण

परवर्ती कालों में राज्याभिषेक

§ २३६. यज्ञों के साथ राज्याभिषेक होने के समय में राष्ट्र-विधान संबंधी जो सिद्धांत आधार-स्तंभ थे, वे परवर्ती कालों में भी प्रचलित रहे। पर हाँ, उनमें परिवर्तित और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार कुछ बातों में थोड़े से संशोधन भी हो गए थे। महाभारत से सूचित होता है कि महाराज युधिष्ठिर ने अपने राज्याभिषेक से पूर्व अपने राजमंत्रियों का पूजन किया था*। यहाँ राजमंत्री मानों वैदिक रत्नियों के स्थानापन्न थे। रामायण में

मुख्य सिद्धांत वैदिक ही था

---

* 'अर्च्चयित्वा सभासदः' सभा पर्व, अध्याय १३. ४. २६, २६।

† रामायण, अयो० कांड, अ० १४. ५. ५२।

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः॥

रामचंद्र के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के समय का, उसके रचना-काल की* प्रचलित प्रथाओं और विचारों के अनुसार, जो उल्लेख है, उससे सूचित होता है कि वैदिक काल के ग्रामणियों और सजातों के स्थान पर जानपद और पौर तथा वैदिक काल के रथकारों और कर्मारों के स्थान पर व्यापारियों और व्यवसायियों के संघ उपस्थित थे†। महाभारत में युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का जो वर्णन है, उससे सूचित होता है कि उस समय सब ब्राह्मण, भूमिपति, वैश्य और समस्त प्रतिष्ठित शूद्र नि-

---

* मैक्डनल ने अपने Sanskrit Literature नामक ग्रंथ के पृ० ३०९ में लिखा है—"ऊपर जितने तर्क दिए गए हैं, उन सब का विचार करने पर इस परिणाम का परित्याग कठिन हो जाता है कि रामायण के मूल रूप की रचना ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हुई थी और बाद में उसमें जो अंश मिलाए गए थे, वे ई० पू० दूसरी शताब्दी में मिलाए गए थे। यह मत जैकोबी के विवेचन (दश रामायण) के अनु-सार ही है।

† देखो आगे सत्ताईसवाँ और अट्ठाईसवाँ प्रकरण।

मंत्रित किए गए थे* । रामायण में† कहा है कि ब्राह्मण, राजमंत्री, क्षत्रिय और व्यापारियों आदि के संघों के सदस्य, जिनमें सभी जातियों के लोग सम्मिलित होते थे, राजा पर नदियों और समुद्रों से लाए हुए जल का अभिषेक करते थे। इसमें स्त्रियों के प्रतिनिधित्व का एक और नया तत्त्व भी सम्मिलित कर लिया गया था; और वह इस रूप में कि अविवाहिता कन्याएँ भी अभिषेक में सम्मिलित होती थीं। महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि धौम्य और कृष्ण के नेतृत्व में प्रजा के सभी प्रतिनिधियों ने युधिष्ठिर का अभिषेक किया था‡। महाराज या सम्राट् उपहार आदि ग्रहण करते थे और लोगों का सम्मान करने के लिये

---

* सभापर्व ३३. ४१-४२. (कुंभकोणम् संस्करण अ० ३७.)

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्भूमिपानथ ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥

† युद्ध कांड १२८.६२ (बम्बई)

ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः पर्वं कन्याभिर्मन्त्रिभिस्तथा ।
योधैश्चैवाभ्यषिञ्चन्स्ते संप्रहृष्टैः सनैगमैः ॥

‡ शांतिपर्व अ० ४१.

उन्हें पुरस्कार आदि देते थे। नीलकंठ (नीतिमयूख)* के अनुसार चारों मुख्य अमात्य या राजमंत्री (मुख्यामात्य-चतुष्टयम्) और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों वर्ण नवीन राजा का अभिषेक करते थे। इसके उपरांत प्रत्येक वर्ण के नेता (मुख्य) और छोटी जातियों के नेता या मुख्य भी (शूद्राश्चावरमुख्याश्च) पवित्र जलों (नाना तीर्थसमुद्भवः) से उसका अभिषेक करते थे। इसके उपरांत द्विजों का कोलाहल होता था (द्विजकोलाहलेन च) जिसमें उच्च स्वर से राजा का जयघोष करके आनंद प्रकट करते थे। इसके उपरांत राजा अपने मंत्रियों, प्रजा के प्रतिनिधियों, राजधानी के नागरिकों, व्यापारियों, व्यवसायियों, बाजार के नेताओं (पणेश्वरान्) तथा अन्य व्यक्तियों के मध्य में बैठता था और प्रतिहारी राजा से उन लोगों का परिचय कराता था (प्रतिहारः प्रदर्शयेत्)। इसके उपरांत राजनगर के राजमार्गों पर राजा की सवारी निकलती थी और तब यह कृत्य समाप्त होता था†। वीरमित्रोदय

---

* बनारस का सन् १८८० वाला संस्करण, पृ० २-३. "ततो भद्रासनगतं" से "शूद्रामात्योऽभिषेचयेत्" तक।

† राजा के उष्णीष में पाँच शिखाएँ होती थीं; रानी और युवराज के उष्णीषों में तीन तीन और सेनापति के

राजनीति प्रकाश (पृ० ४६) में ब्रह्म पुराण का जो उद्धरण दिया गया है, उससे सूचित होता है कि राज्याभिषेक का कृत्य समाप्त होने पर राजा हाथी पर चढ़कर राजधानी की प्रदक्षिणा करता था और तब फिर राजप्रासाद में आकर पौर के समस्त नेताओं या मुखियों का पूजन अथवा सम्मान करता था।

प्रदक्षिणीकृत्य पुरं प्रविश्य च पुरं गृहम्।
समस्तान् पौरमुख्यांश्च कृत्वा पूजां विसर्जयेत्॥

अथर्वणपरिशिष्ट* में पुष्य राज्याभिषेक कृत्य का जो वर्णन है, उससे सूचित होता है उस कृत्य के उपरांत राजा ब्राह्मणों को दर्शन देता था और प्रजा तथा श्रेणियों आदि के नेताओं की स्त्रियों को नमस्कार करता था, जिस पर वे उसे आशीष देती थीं।

उष्णीष में एक शिखा होती थी। (नीतिमयूख का उक्त संस्करण पृ० ४.)

* वीरमित्रोदय राजनीति पृ० ११४ में मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत।

ततस्तु दर्शनं देयं ब्राह्मणानां नृपेण तु।
श्रेणी प्रकृतिमुख्यानां स्त्रीजनं च नमस्करेत्॥
आशिषस्ते हि दास्यन्ति........

तात्त्विक दृष्टि से ये सब कृत्य प्रायः वही हैं जो ब्राह्मण काल में होते थे। विशेषता केवल यही है कि प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर इनमें कुछ और वृद्धि कर दी गई है। जैसा कि खालिमपुर के ताम्रलेख से प्रकट है,* पांचालों में पौर और जानपद की भाँति वृद्धों की जो सभा या समिति थी, उसने धर्मपाल के समय में कान्यकुब्ज के नए राजा का अभिषेक किया था।

प्रतिज्ञा

§ २३७. आजकल जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में राज्यारोहण के समय राजा से शपथ ली जाती है, उसी प्रकार उन दिनों प्रतिज्ञा कराने की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत में यह प्रतिज्ञा प्रायः उसी रूप में दी गई है, जिस रूप में वह ऐतरेय ब्राह्मण में मिलती है।

यह प्रतिज्ञा महाभारत में 'श्रुति' के नाम से कही गई है जिससे सूचित होता है कि उसका मुख्य आधार वैदिक ही था। जिस प्रकार ऐतरेय में कहा गया है कि व्रत-धारण श्रद्धापूर्वक (सह श्रद्धया) होना चाहिए, उसी प्रकार महा-

---

* 'हृष्यत्पञ्चालवृद्धोद्धृतकनकमयस्वाभिषेकोदकुम्भो दत्तः श्रीकान्यकुब्जः, Epigraphia Indica ४. पृ० २४८. देखो आगे सत्ताईसवाँ प्रकरण।

भारत में भी कहा गया है कि प्रतिज्ञा मनसा होनी चाहिए; अर्थात् मन में किसी प्रकार का छल या कपट रखकर नहीं की जानी चाहिए। यथा—

प्रतिज्ञां चाभिरोहस्व मनसा कर्म्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्म्मो नीत्युक्तो दंडनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन* ॥

अर्थात् मन, कर्म और वचन से (मन में बिना किसी प्रकार का छल-कपट रखे) प्रतिज्ञा करो†, शपथ करो—

(क) मैं देश को‡ सदा स्वयं ब्रह्म समझकर उसका पालन करूँगा;

---

* शांतिपर्व (कलकत्ता) ५६. १०६-१०७। (कुंभकोणम् संस्करण ५८. ११५-११६) दक्षिण भारत की प्रतियों में "प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व" पाठ है। बंगाल की प्रतियों के "नीत्युक्तो" शब्द के स्थान पर "इत्युक्तो" पाठ है, जिसका कोई संतोषजनक अर्थ नहीं होता।

† "प्रतिज्ञा पर आरोहण करो" से राज-सिंहासन पर आरोहण करने की ओर संकेत है।

‡ मूल में 'भौम' शब्द है जिसका अर्थ है—वे समस्त पदार्थ जो भूमि से संबंध रखते हों।

(ख) यहाँ जो धर्म और जो नीति प्रचलित है और जो दंड नीति के विरुद्ध नहीं है, उसका मैं निःशंक भाव से पालन करूँगा और कभी मनमानी न करूँगा*।

राजा के इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर प्रजा वर्ग के सब उपस्थित लोग "एवमस्तु" कहते थे। यहाँ भी हिंदू राज्यारोहण संबंधी प्रतिज्ञा का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वरूप वर्तमान है। उसमें किसी प्रकार के मिथ्या विश्वास आदि का कहीं नाम भी नहीं है। संसार के अन्यान्य देशों में जो राजकीय शपथें प्रचलित हैं, उनके मुकाबले में इस दृष्टि से हमारे यहाँ की यह प्रतिज्ञा अनुपम है†।

उसका अनुपम स्वरूप

---

* मूल में "स्ववश" शब्द है। ऐतरेय में एकराजता के स्वावश्य नामक स्वरूप का भी उल्लेख है। महाभारत के इस उद्धरण से सूचित होता है कि यह ऐसे शासन का बोधक है जिसमें राजा स्वयं अपनी इच्छा से और अबाधित रूप से मनमाना शासन करता था और जिसमें उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता था। साथ ही इससे यह भी सूचित होता था कि देश में इस प्रकार का शासन पसंद नहीं किया जाता था और बदनाम था।

† मिलाओ Encyclopedia Brittanica (ग्यारहवाँ संस्करण) में राजकीय शपथ या Oath संबंधी लेख।

§ २३८. "हे भरत जाति के राजन्, आजकल जो राजा का पद प्रचलित है, वह किस प्रकार उत्पन्न हुआ है ? पितामह, यह आप कृपा कर मुझे बतलाइए। उसके हाथ, भुजाएँ और ग्रीवा आदि सब औरों के ही समान हैं; दुःख और सुख आदि में वह दूसरों के समान है; उसकी पीठ, मुख और उदर सब और लोगों के समान हैं; उसमें शुक्र, अस्थि, मज्जा, मांस और रुधिर आदि भी समान हैं; श्वास-प्रश्वास और प्राण तथा शरीर में भी वह दूसरों के समान ही है; उसका जन्म और मरण भी समान है और मनुष्यों के अन्य गुणों में भी वह और सब लोगों के समान ही है। फिर भी क्या कारण है कि केवल वही बड़े बड़े विशिष्ट बुद्धिवालों और वीरों पर शासन करता है ? शूर और वीर आर्यों के समस्त देश पर केवल वही क्यों शासन करता है ? और फिर यद्यपि वही सब की रक्षा करता है, पर फिर भी वह लोक या समाज के प्रसाद या संतोष की कामना करता है। और फिर उस एक आदमी के प्रसन्न होने से ही समस्त समाज या लोक प्रसन्न होता है और उसके दुखी या व्याकुल होने पर और सब लोग भी विकल हो जाते हैं। यह एक निश्चित सिद्धांत है। हे भरतों के प्रधान, मैं इस संबंध में आपसे सुनना चाहता हूँ। हे श्रेष्ठ व्याख्याता, आप कृपा

राजा और महाभारत की प्रतिज्ञा के इतिहास का विवेचन

कर इसके सब मूल सिद्धांत मुझे विस्तारपूर्वक बतलावें। हे विश्-पति, इसका कारण अल्प या साधारण नहीं हो सकता। क्योंकि समस्त जगत् मार्ग-दर्शन के लिए इस प्रकार केवल उसी का मुखापेक्षी रहता है, मानों वह स्वयं परमात्मा हो*।"

---

* शांतिपर्व (कलकत्ता) ५६. ५·१२. (कुंभकोणम् संस्करण ५८. ५-८।

य एष राजन्राजेति शब्दश्चरति भारत।
कथमेव समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥५॥
तुल्यपाणि भुजाग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः ॥६॥
तुल्य शुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च।
निःश्वासोच्छ्वास तुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥७॥
समानजन्ममरणः समः सर्वैगुणैर्नृणाम्।
विशिष्टबुद्धीञ्शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥८॥
कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम्।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाञ्छति ॥९॥
एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥१०॥

युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से ये प्रश्न किए थे; और इनके उत्तर में उन्होंने राजत्व तथा प्रतिज्ञा का इतिहास बतलाया था।

भीष्म पितामह ने वह कारण बतलाया था जो अल्प या साधारण नहीं था; और उसके साथ हिंदू एकराजता का पूरा इतिहास भी बतलाया था। उन्होंने कहा था—"प्राचीन काल में न तो कोई राज्य था और न कोई राजा था। उस समय सब लोग धर्म या कानून के द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे। परन्तु इस प्रकार कुछ समय तक निर्वाह करने पर उन लोगों ने देखा कि केवल पारस्परिक सहयोग में ही यथेष्ट बल नहीं है और इससे स्वयं धर्म की ही हानि होने लगी है। अतः उन लोगों ने देवताओं से परामर्श करके एक राजा निर्वाचित करना निश्चित किया। देवताओं ने उनसे कहा कि तुम विराजस् को ले जाओ और इन्हें अपना राजा बनाओ। परन्तु विराजस् ने राजा बनने से इनकार कर दिया। उनके

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तो हि भरतर्षभ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वरः ॥११॥
नैतत्कारणमत्यल्पं भविष्यति विशांपते।
यदेकस्मिञ्जगत्सर्वं देववद्याति सन्नतिम् ॥१२॥

तीन उत्तराधिकारी रक्षयिता या रक्षक के रूप में रहे और चौथे ने एक साम्राज्य स्थापित किया और वह स्वेच्छाचार-पूर्वक शासन करने लगा। (जान पड़ता है कि इन लोगों ने कोई प्रतिज्ञा या शपथ नहीं की थी; क्योंकि, जैसा कि कहा जाता है, ये लोग देवताओं के भेजे हुए आए थे।) चौथा रक्षयिता वेण था और वह भी देवताओं का ही भेजा हुआ आया था। परन्तु प्रजा ने देखा कि वह बहुत अधर्मी था; इसलिये वह राज्यच्युत कर दिया गया और उसे प्राण-दंड दिया गया। इस पर बुद्धिमान् पुरुषों* ने पृथु

---

* ऋषि। इस वर्णन में इस कल्पित ऐतिहासिक अत्याचारी को प्राणदंड देने का श्रेय ऋषियों और ब्रह्मज्ञानियों को देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कुछ स्थानों में इस बात के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं कि बाद में इस सिद्धांत पर ब्राह्मणत्व की छाप डाली गई थी। इस अध्याय के आरंभ में कहा गया है कि राजा को निर्वाचित और नियुक्त करने के संबंध में परामर्श करने के लिये सब वर्ण मिलकर ब्रह्मा के पास गए। यदि यही बात हो तो फिर बाद में केवल ऋषियों की ही प्रधानता क्यों दिखलाई गई? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऋषि लोग तीनों वर्णों में के ही थे और उनके प्रतिनिधि थे। पर फिर भी इस बात में कोई

नामक एक व्यक्ति को निर्वाचित किया, जो वेणु का

संदेह नहीं रह जाता कि इसमें ब्राह्मणों को महत्त्व देने की प्रवृत्ति है। इसी ग्रंथ में इसी तरह के एक और विषय में सब वर्णों के मिलकर काम करने का उल्लेख आया है। प्रायः कहा जाता है कि महाभारत, रामायण और मानव धर्म-शास्त्र (जिनकी रचना प्रायः एक ही समय में और प्रायः एक ही हाथों तथा लेखनियों से हुई थी) में ब्राह्मणों की प्रधानता के बहुत प्रबल उल्लेख और प्रमाण मिलते हैं; और इस मत की बहुत कुछ पुष्टि ई० पू० दूसरी शताब्दी के राजनीतिक इतिहास से होती है। उस समय एक बड़े ब्राह्मण (पुष्य-मित्र) ने भारत के सिंहासन पर आरोहण किया था और प्राचीन राजनीतिक तथा धार्मिक प्रणालियों के विरुद्ध एक प्रबल धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी। जब ब्राह्मण शासक ने यूनानी शक्ति को कुचल डाला और हिंदू सभ्यता की रक्षा की, तब ब्राह्मणों की अपनी प्रधानता स्थापित करने की कामना कुछ न्यायपूर्ण कही जा सकती थी; और जब नवीन शासन बहुत अधिक सफल तथा सर्व-प्रिय हो गया, तब अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा उस समय उनकी प्रधानता अधिक सहज में स्थापित भी हो सकती थी। परन्तु रामायण और महाभारत में स्पष्ट रूप से लिखा

वंशज था। उसने वचन दिया कि मैं अच्छी तरह शासन करूँगा* और तब उससे ऊपर लिखी प्रतिज्ञाएँ कराई

हुआ है कि वे दोहराए गए थे (पुरा वाल्मीकिना कृतम्) रामायण छठा कांड, अध्याय १२८,१०५ और ११० और महाभारत (आदिपर्व)। बौद्धों पर उनके आक्रमण और राजनीतिक प्रमाणों से, जो रामायण के संबंध में पूर्ण रूप से और महाभारत के संबंध में अधिकांश में ई० पू० दूसरी शताब्दी के हैं, प्रमाणित होता है कि ये दोनों महाकाव्य आरंभिक शुंग काल में दोहराए गए थे। इसलिये उनमें ब्राह्मणों के प्रभुत्व का जो बहुत अधिक उल्लेख मिलता है, उससे हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। सौभाग्य-वश शिलालेखों, जातकों तथा दूसरे पाली ग्रन्थों, अर्थशास्त्र सरीखे ग्रन्थों, धर्म-सूत्रों तथा विदेशियों के लिखित प्रमाणों के आधार पर हम उनका संशोधन कर सकते हैं।

* यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा॥

अर्थात् आप महानुभाव मुझे दंडनीति के अनुसार जो कुछ उपयुक्त बात बतलावेंगे, वह मैं आप लोगों के लिये बिना किसी प्रकार की आपत्ति के करूँगा। (महा० शांतिपर्व ५६. १०२)

गई। उसने धर्म तथा अपने वचन के अनुसार सफलता-पूर्वक शासन किया। प्रजा उसके शासन से प्रसन्न हुई थी और इसलिये उसे राजा (रंजन करनेवाला) की उपाधि मिली"*।

§ २३६. राजनीतिक लेखकों ने हिंदू राज्यारोहण की प्रतिज्ञाओं का स्वरूप समझाने के लिये यह कल्पित ऐतिहासिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इस बात का मूल शतपथ ब्राह्मण† तक पहुँचता है जिसमें कहा गया है कि हिंदुओं का पहला अभिषिक्त राजा पृथु वैण्य था। इस सिद्धांत का यह अभिप्राय है कि प्रतिज्ञा का आरंभ राजत्व के साथ ही हुआ था; और वह भी उतनी ही प्राचीन है, जितना प्राचीन स्वयं राजत्व है। इस प्रतिज्ञा की मीमांसा या विवेचन करने पर पता चलता है कि हिंदू राजा की स्थिति इस प्रकार थी—

प्रतिज्ञा की मीमांसा

---

* रंजिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते। महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ५६; श्लोक १२५।

† शतपथ ब्राह्मण ५. ३. ५. ४. ऋग्वेद ८. ६. १०. में भी वैण्य का नाम आया है। ऋग्वेद में वह ऋषि और ऐतिहासिक पुरुष जान पड़ता है (२. ११२. १५.)

(१) राजा के हाथ में राज्य सौंपा जाता है और वह कहता है कि मैं इसका पालन या उन्नति करूँगा; और इसका पालन राजा का सर्वप्रधान कर्तव्य होता है।

(२) जो देश उसे पालन करने के लिये दिया जाता है, उसे वह स्वयं परमेश्वर से कुछ भी कम नहीं समझता* जिसका अभिप्राय यह है कि वह बहुत ही शुद्ध हृदय से, आदरपूर्वक और डरता डरता शासन करेगा। यह संबंध उन संबंधों से बहुत भिन्न है जिनमें राजा लोग प्रजा का पालन, उन्हें अपना पुत्र समझकर, प्रजापति के रूप में करते हैं; अथवा यह समझकर करते हैं कि मुझे इस बात का ईश्वरदत्त अधिकार है; अथवा केवल अपनी शक्ति और वैभव के बल पर करते हैं।

(३) यह एक निश्चित सिद्धांत है कि राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। वह धर्म से बद्ध होता है और धर्म के

---

* चंडेश्वर ने अभिषेक के संबंध का जो एक मंत्र उद्धृत किया है, उसमें प्रजा को विष्णु कहा गया है। (राजनीति-रत्नाकर अध्याय १६.)

अद्यारभ्य न मे राज्यं राजाऽयं रक्षतु प्रजाः।
इति सर्वं प्रजाविष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहुः॥

शासन के अधीन लाया जाता है। आगे चलकर राजनीति या दंडनीति के बंधनों से भी वह बद्ध किया गया था। राज्य के आंतरिक शासन तथा पर-राष्ट्रों से संबंध रखने में उसे धर्म और दंडनीति के अनुसार ही चलना पड़ता था; और उसे इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं कभी इनकी उपेक्षा न करूँगा।

वास्तविक जीवन पर प्रतिज्ञा का प्रभाव

§ २४०. प्राचीन जातियों ने भी और इस समय की जातियों ने भी राजाओं के राज्याभिषेक के समय की शपथें बनाई हैं। परंतु उनमें से कोई शपथ ऐसी नहीं है जिसमें राजा का ध्यान इस बात की ओर इतने जोरों के साथ आकृष्ट किया गया हो कि जिस देश पर वह शासन करना चाहता है, वह देश ही सबसे अधिक बलवान् और सबसे अधिक पवित्र है। उस देश के प्रति किसी प्रकार का अपराध करना मानों स्वयं ईश्वर के प्रति अपराध करने के समान समझा जाता था। एक बार यह प्रतिज्ञा, यह शपथ, कर लेने पर फिर उसे विस्मृत करना असंभव होता था। यदि हिंदू राजा अपनी राज्याभिषेकवाली प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सकता था, तो वह असत्य-प्रतिज्ञ और असत्य-संध कहा जाता था; और उस दशा में उसे राजसिंहासन पर आरूढ़ रहने का अधिकार नहीं रह जाता था। राज्याभिषेक के समय की प्रतिज्ञा कोरी रस्म ही नहीं होती थी;

इसका प्रमाण इसी बात से मिल जाता है कि राजा लोग समय पड़ने पर अभिमानपूर्वक कहा करते थे कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा और असत्य-प्रतिज्ञ नहीं हुआ। जो रुद्रदामन् प्रायः हिंदू सा बन गया था, उसने अपने शिलालेख में बड़े शौक से लिखाया था कि मैं सदा सत्यप्रतिज्ञ रहा और मैंने कभी कोई ऐसा कर नहीं लगाया जो धर्मविरुद्ध हो* । कभी-कभी प्रतिज्ञा तोड़ने का अभियोग बहुत तूल पकड़ता था। यदि राजा अपने राज्य का संघटन अक्षुण्ण नहीं रख सकता था तो वह प्रतिज्ञा तोड़ने का अपराधी समझा जाता था। बृहद्रथ मौर्य बहुत दुर्बल शासक था। उसके समय में यूनानियों ने दोबारा भारत पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया था और वह राज्यच्युत कर दिया गया था। अतः बाण ने उसके संबंध में कहा था कि वह प्रतिज्ञा-दुर्बल था अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने में समर्थ नहीं था। धर्म के अनुसार शासन करने की प्रतिज्ञा के उपरांत यदि राजा अधर्म का आचरण करके अपराध करता था, तो वह प्रतिज्ञा भंग करनेवाला समझा जाता था और उसका कार्य अधर्म-युक्त या गैर-कानूनी माना जाता था; और उस

---

* Epigraphia Indica खंड ८-पृ० ४३-४४ ।

दशा में उसे अभिषिक्त करनेवाले लोग उसे राज्यच्युत कर सकते थे। जातकों*, अनुश्रुतियों, साहित्य और इतिहास में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं। महाभारत में† अत्याचारी राजा वेण की राज्यच्युति और प्राणदंड का यही कारण बतलाया गया है कि वह विधर्मी हो गया था; अर्थात् धर्म के विरुद्ध आचरण करने लगा था। मगध का नाग-दशक इसलिये राज्यच्युत किया गया था कि उसने अपने पिता की हत्या की थी; और इसी लिये उसे दंड भी दिया गया था‡। मृच्छकटिक में के राजा पालक को इसी लिये राज्यच्युत किया गया था कि उसने आर्यक को बिना किसी अपराध के ही कारागार में रखा था।

---

* जातक, खंड १. पृ० ३६८।

† देखो महाभारत, अनुशासनपर्व, ४१।

अरक्षितारं हर्त्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नैह्य निर्घृणम्॥३२॥
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्मादातुरः॥३३॥

‡ महावंश (४.४.) जो पाँचवीं शताब्दी में सिंहल में एक हिंदू के द्वारा रचा गया था जिसने अपने देश की परंपरागत प्रथा या रूढ़ि का अनुसरण किया था।

§ २४१. मुसलमानों के शासन-काल तक भी राज्यारोहण के समय की प्रतिज्ञा एक आवश्यक कृति समझी जाती थी। उन दिनों राज्यारोहण के समय जो रस्में होती थीं, वे सर्वांश में ठीक वही नहीं होती थीं जो कि ब्राह्मण-काल में होती थीं। राज्यारोहण के उपरांत राजा की जो सवारी निकलती है, वह प्राचीन काल की सीधी-सादी रथ-यात्रा का विकास है, जिसमें राजा रथ पर चढ़कर नगर में घूमने निकलता था। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, राजा एक सभा करता था जिसमें प्रजा के नेता और मुखिया उसके समक्ष उपस्थित किए जाते थे। इन सब कृत्यों में आगे चलकर बहुत से सुधार और परिवर्द्धन हुए थे। परंतु राज्यारोहण की प्रतिज्ञा ऐतरेय ब्राह्मण में की प्रतिज्ञा है और हिंदू धर्म-शास्त्रकारों ने* एक-राजता के मध्य युग के आदर्श अपने सामने रखने पर भी वह प्रतिज्ञा उद्धृत करके आवश्यक बतलाई थी। यद्यपि देश के भाग्य में बहुत बड़े बड़े परिवर्तन हो गए थे और अनेक विरोधी सिद्धांतों से संपर्क हो गया था, परंतु फिर भी

मध्य युग तथा परवर्ती काल की प्रतिज्ञा

---

* राजनीति वीरमित्रोदय पृ० ५२. (बनारस १९१६.) देखो आगे अट्ठाईसवाँ और उन्तीसवाँ प्रकरण।

हिंदू जाति राज्यारोहण संबंधी अपनी वह प्रतिज्ञा नहीं भूली थी जो उसके वैदिक पूर्वजों ने प्रचलित की थी। उसे जो पवित्र और धार्मिक रूप दे दिया गया था, उसी के कारण वह प्रतिज्ञा इतिहास तथा भावी पीढ़ियों के लिये सुरक्षित है।

परवर्ती कालों में राज्यारोहण और निर्वाचन - संबंधी सिद्धांत

§ २४२. आगे चलकर राजत्व वंशानुक्रमिक हो गया था*। परंतु फिर भी कभी यह मूल तत्त्व विस्मृत नहीं किया गया था कि हिंदू एकराजता निर्वाचन-मूलक है। हमारी सम्मति में इसके दो मुख्य कारण थे। जैसा कि मेगास्थिनीज लिख गया है,† जब किसी राजवंश में कोई पुरुष नहीं रह जाता था, तब नया राजा निर्वाचित किया जाता था। और इस प्रकार राज्यारोहण संबंधी पुराने कृत्य और विधान आदि समय समय पर फिर से ताजे होते रहते थे। मुसलमानों के समय में भी जब महाराज शिवाजी का छत्रपति के रूप में राजतिलक हुआ था, तब उस विधान का स्वरूप भी निर्वाचन का सा

---

* रामायण, अयोध्याकांड २१. ३२. ६. १६.
राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम्। ७६.५.७६.७

† एरियन कृत Indika ८.

ही था। बंगाल के पाल राजाओं तक के समय भी यह सिद्धांत एक जीवित तत्त्व के रूप में वर्तमान था। गोपाल ने अपने शिलालेख में कहा है कि मुझे निर्वाचन के सिद्धांत के अनुसार अभिषिक्त होने का सौभाग्य प्राप्त है। वह कहता है कि लोगों ने राज्य के साथ सहयोग करके अराजकता का अंत किया*। वास्तव में आरंभिक काल में राजा और प्रजा सभी के मुख पर यह सिद्धांत रहता था। ईसवी दूसरी शताब्दी में रुद्रदामन् ने अपने शिलालेख में लिखा था—"मैं राजपद के लिये सब वर्णों के द्वारा निर्वाचित हुआ हूँ †।"

राज्याभिषेक के लिये अवस्था

§ २४३. सम्राट् खारवेल के शिलालेख से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि जब तक निर्वाचित राजा का चौबीसवाँ वर्ष समाप्त नहीं हो जाता था, तब तक हिंदू प्रथा के अनुसार उसका राज्याभिषेक नहीं हो सकता था। जैन साहित्य की एक शाखा में कहा है कि विक्रम का राज्याभिषेक

---

* मात्स्यन्यायमुपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्या करं ग्राहितः ॥ Epi. Ind खंड ४. पृ० २४८

† सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन। Epi. Ind. खंड ८. पृ० ४३।

उसके पचीसवें वर्ष में हुआ था। यही वह अवस्था थी जिसमें उपनिषद् काल में साधारणतः एक हिंदू (अर्थात् श्वेतकेतु) के संबंध में यह समझा जाता था कि उसने अपना विद्याध्ययन समाप्त कर लिया है। खारवेल के शिलालेख का, जो यह बतलाता है कि राज्याभिषेक के संबंध में धर्मशास्त्रों का यह विधान था कि वह वय के पचीसवें वर्ष में किया जाय, समर्थन बृहस्पति-सूत्र (१. ८६) से भी होता है जिसमें कहा गया है—पंचविंशतिवर्षम् यावत् क्रीडा-विद्याम् व्यसनात् कुर्यात् अत उत्तरम् अर्थार्जनम्;* और यह खारवेल के लेख के आशय से बहुत कुछ मिलता हुआ है।

इस बात के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं कि राज्याभिषेक संबंधी विधानों का दृढ़तापूर्वक पालन होता था। यद्यपि अशोक के वंश के लोगों ने नवीन दार्शनिक सिद्धांत ग्रहण कर लिए थे, तथापि वे भी राज्याभिषेक संबंधी प्राचीन तथा पवित्र विधानों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे†। आजकल लोग जिसे राज्यारोहण कहते हैं, उस

---

* अर्थार्जनम् का अभिप्राय है—राजनीतिक जीवन में सम्मिलित होना।

† उसके पोते दशरथ ने अपने शिलालेख में स्वयं अपने राज्याभिषेक का उल्लेख किया है।

राज्यारोहण के चार वर्ष बाद तक उसका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। जान पड़ता है कि खारवेल की भाँति उसका भी तब तक चौबीसवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ था। राज्याभिषेक के पूर्व का उसका शासन-काल हिंदू धर्म-शास्त्र की दृष्टि से गणना के योग्य नहीं समझा गया था। यदि हम इस तत्त्व को ध्यान में रखें तो वशिष्ठ के धर्मसूत्र के उस विधान का रहस्य समझ में आ जायगा जिसमें उसने बतलाया है कि प्राचीन राजा की मृत्यु और नवीन राजा के राज्याभिषेक के मध्य के समय का सूद नहीं जोड़ा जाना चाहिए*। धर्मशास्त्र के अनुसार वर्षों की गणना केवल शासन के वर्षों या राजवर्षों से की जाती थी†। इसी लिये पुराणों में अशोक के राज्याभिषेक के पूर्व के वर्षों की गणना नहीं की गई है; हाँ उसके राजवंश के समस्त शासन-काल में वे वर्ष अवश्य सम्मिलित किए

---

* राजा तु मृत भावेन द्रव्यवृद्धि विनाशयेत्।
पुनाराजाभिषेकेण द्रव्यमूलं च वर्धते॥
—वशिष्ठ-कृत धर्मसूत्र, २. ४६।

† राजवर्ष मासः पक्षो दिवसश्च.........इति कालः।
—अर्थशास्त्र, पृ० ६०. (२. ६. २४)

गए हैं*। इस से यह भी प्रकट होता है कि राजा को धर्मशास्त्र की दृष्टि से राजा या शासक होने के लिये विधिवत् राज्याभिषिक्त होना चाहिए। छठी शताब्दी में जो विदेशी बर्बर इस देश में आए थे, उनके संबंध में पुराणों में "नैव मूर्द्धाभिषिक्तास्ते" कहा गया है; अर्थात् वे "अनभिषिक्त सिरवाले" या दूसरों का राज्य जबरदस्ती दबा लेनेवाले थे†। जब तक कोई राजा शुद्ध मन से शासन संबंधी उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं करता था, तब तक वह धर्मशास्त्र के अनुसार शासन करने का अधिकारी नहीं होता था। राज्याभिषेक संबंधी यह विधान इतना दृढ़ था कि कालिदास ने पुष्यमित्र की ओर से अग्निमित्र के नाम जो पत्र प्रस्तुत किया था, उसमें उसने जान-बूझकर पुष्यमित्र को राजा नहीं लिखा था। राजसूय यज्ञ के द्वारा उसका राज्याभिषेक होने की तैयारियाँ

---

* जायसवाल J. B. O. R. S. खंड १. (१६१५) पृ० ६३. खंड ३. पृ० ४३८.

विन्सेन्ट स्मिथ कृत Early History of India, तीसरा संस्करण, पृ० १६७.

† पार्जिटर द्वारा संपादित Puran Text में वायु पुराण, पृ० ५६।

हो रही थीं; परंतु उस समय तक उसका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। इसी कारण वह धर्मशास्त्र के अनुसार राजा नहीं था*।

———

* मालविकाग्निमित्र।

इस पत्र में राजा की उपाधि नहीं दी गई है, इस कारण विद्वानों में इस संबंध में बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ था। परंतु ऊपर राष्ट्र-विधान की दृष्टि से इसका जो कारण बतलाया गया है, उससे इस प्रश्न की ठीक ठीक मीमांसा हो जाती है। कालिदास ने यही मान लिया था कि अभी तक उसका राज्याभिषेक नहीं हुआ है और इसलिये वह अभी राजा नहीं है।

छब्बीसवाँ प्रकरण (क)

परवर्ती कालों में राज्याभिषेक संबंधी सिद्धांत

राज्याभिषेक की प्रतिज्ञा का धार्मिक स्वरूप

§ २४४. जब राज्याभिषेक संबंधी प्रतिज्ञा या शपथ ने धार्मिक रूप धारण कर लिया, तब यह नितांत आवश्यक हो गया कि हिंदू राजनीति में उसका मूल रूप मानव ही माना जाय; क्योंकि इसके सिवा और किसी प्रकार का उसका मूल माना जाना असंभव ही था। किसी के राज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर लेनेवाला भी यदि हिंदू होता था, तो उसे पहले राज्याभिषेक संबंधी सब धार्मिक कृत्य करने पड़ते थे; और जब वह प्रतिज्ञा या शपथ कर लेता था, तब उसका वह पुराना और बल-प्रयोग करके विजयी बनने के संबंध का अधिकार नष्ट हो जाता था। ईसवी दूसरी शताब्दी तक हिंदू समाज में बहुत बड़े बड़े परिवर्तन हो गए थे; और यह बात उस समय के विवादों तथा धर्मशास्त्रों आदि से भली भाँति प्रमाणित

होती है*। परंतु उस समय भी इस धार्मिक कृत्य का इतना अधिक महत्त्व समझा जाता था कि जो विदेशी शासक अपना राज्य धर्म-तथा नीति-सम्मत बनाना चाहते थे; उन्हें भी यह धार्मिक कृत्य अवश्य ही करने पड़ते थे। रुद्रदामन् कहा करता था—"मैं निर्वाचित होकर राजा हुआ हूँ; और मैंने राज्याभिषेक संबंधी प्रतिज्ञा या शपथ करके यह उत्तरदायित्व ग्रहण किया है।" ऐसी दशा में इस प्रकार का कोई सिद्धांत मानने के लिये स्थान नहीं रह जाता कि राजत्व का मूल दैवी या अलौकिक है।

---

* अर्थात् अश्वघोष की वज्रसूची, जिसमें कहा है—

गोत्रब्राह्मणमारभ्य ब्राह्मणीनां शूद्रपर्यन्तमभिगमनदर्शनात्। अतो जातिब्राह्मणो न भवति। इह हि कैवर्त्त-रजक-चंडाल-कुलेष्वपि ब्राह्मणाः सन्ति.........एकवर्णो, नास्ति चातुर्वर्ण्यम्। इत्यादि।

बौधायन यह कहकर पंजाब की मानों निंदा करता है कि वह मिश्र वर्णों का निवास-स्थान है। उपनिषदों के समय में पंजाब प्राचीन और सनातन धर्म का केंद्र समझा जाता था। बौधायन ने पंजाब की जो यह निंदा की है, वह संभवतः अशोक से मैनैंडर तक के समय की है, जब कि पंजाब में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था।

राजा का दैवी मूल

एक अवसर पर एक ऐसा सिद्धांत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया था जो हिंदू दृष्टि से राजत्व के दैवी मूलवाले सिद्धांत तक सबसे अधिक पहुँचता हुआ था। परंतु वह प्रयत्न बुरी तरह विफल हुआ, जिससे सूचित होता है कि इस प्रकार के सिद्धांतों की हिंदुओं के यहाँ कुछ भी गुंजाइश नहीं थी। मानव धर्मशास्त्र में, जो ब्राह्मण पुष्यमित्र* के क्रांतिपूर्ण शासन-काल में लिखा गया

---

* पुष्यमित्र की जाति का विवेचन मैंने अपने "ब्राह्मण साम्राज्य" (Brahmin Empire) (१६१२) नामक निबंध में किया है जिसका संशोधित रूप बिहार और उड़ीसा की रिसर्च सोसाइटी के जरनल (२५७-२६५) में प्रकाशित हुआ है। देखो शुंग के संबंध में पाणिनि ४. ८. ११७। ब्राह्मण राज्य के संबंध में पतंजलि ६. २. १३०। और 'ब्रह्मनेन कोयनिग' पुष्यमित्र के संबंध में तारानाथ पृ० ८१। मानव धर्मशास्त्र और पुष्यमित्र का संबंध जानने के लिये देखो मेरा Tagore Lectures on Manu & Yajnavalkya. I. मानव धर्मशास्त्र की रचना के समय पार्थियन लोग भारत के पड़ोसी थे; परंतु जिस प्रदेश की राजधानी मथुरा थी, वह प्रदेश उस समय

था, यह प्रतिपादित किया गया था कि राजा को केवल इस विचार से तुच्छ नहीं समझना चाहिए कि वह मनुष्य है। वह वास्तव में देवता या परमात्मा का अंश होता है जो मनुष्य के रूप में अवतरित होता है*। इस सिद्धांत के संबंध में शास्त्रकार को प्राचीन साहित्य में से कोई ऐसा वाक्य आदि नहीं मिला जो इसका प्रत्यक्ष रूप से समर्थन करता। उसने राजनीतिज्ञोंवाले उसी सिद्धांत का उपयोग किया जिसका हम पहले (§ १०१) उल्लेख कर चुके हैं; अर्थात् यही कहा कि जब लोग अराजक शासन-प्रणाली से असंतुष्ट हुए, तब उन्होंने ब्रह्मा से परामर्श किया, जिसने उनसे राजा निर्वाचित करने के लिये कहा। मनु वैवस्वत के निर्वाचन के सिद्धांत को तो उसने छोड़ दिया और वेणु की कथा उसने ले ली। वह कहता है कि अराजक से लोगों की रक्षा करने के लिये प्रभु या परमात्मा ने राजा

तक सनातनी ही था। म्लेच्छों का देश उस समय भी मध्य देश से बाहर और अलग ही था। यह ई० पू० लगभग १५० का समय सूचित करता है।

* मानव धर्मशास्त्र ७. ८।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

की सृष्टि की* । परंतु इस परंपरागत अनुश्रुति का यह शेषांश वह छोड़ देता है कि देवताओं द्वारा प्रदत्त राजा वेण इसलिये राज्यच्युत कर दिया गया था कि वह अधर्मपूर्वक शासन करता था । राज्याभिषेक के कृत्यों में देवताओं से निर्वाचित राजा को उसके नए कर्तव्यों में सहायता देने के लिये जो प्रार्थना की जाती है, उसका मानव-धर्मशास्त्रकार खींच-तान-कर कुछ और ही अर्थ करता है† । उस धर्मशास्त्र में कहा गया है कि वे सब देवता आकर राजा के शरीर में प्रवेश करते हैं और वह एक बहुत बड़ा देवता हो जाता है‡ । 'अतः राजा की कभी किसी प्रकार अवज्ञा नहीं करनी चाहिए । हम समझते हैं कि इस प्रकार के सिद्धांत का

---

* मानव धर्मशास्त्र ७. ३ ।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥

† इस संबंध में साथ ही वाजसनेयी संहिता १०. १६. १७. २८. और उससे मिलते हुए ब्राह्मणों के मंत्र आदि देखने चाहिएँ ।

‡ मानवधर्मशास्त्र ७. ७ ।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेंद्रः प्रभावतः ॥

विचार अर्थशास्त्र* में आए हुए विवेचनों सरीखे किसी विवेचन को देखकर उत्पन्न हुआ होगा। राजा अथवा राष्ट्र के एक वेतनभोगी कर्मचारी से कहलाया गया था—

"राजा का पद इंद्र और यम का पद है। वही प्रत्यक्ष रूप से लोगों को दंड और पुरस्कार आदि देता है। जो लोग उसकी अवज्ञा करते हैं, उन्हें स्वयं दैव की ओर से भी दंड मिलता है। अतः राजाओं का कभी अवमान नहीं होना चाहिए।"

यह कथन राजकीय गुप्तचर का है जो नए राजा के पक्ष के समर्थन में कहा गया है; और उन लोगों के उत्तर में कहा गया है जो एकराजता के सामाजिक समझौतेवाले सिद्धांत का आश्रय लिया करते थे†। यदि उस समय राजा के दैवी मूल के संबंध में कोई सिद्धांत प्रचलित होता, तो वही सबसे पहले उद्धृत किया जाता। परंतु अर्थशास्त्र के उक्त वाक्यों में राजा के किसी दैवी मूल का उल्लेख नहीं है और न उसमें कहीं यही कहा गया है कि राजा

---

* अर्थशास्त्र पृ० २३. इंद्रयमस्थानमेतत् राजानः प्रत्यक्ष-हेडप्रसादाः। तानवमन्यमानन्दैवोऽपि दंडः स्पृशति। तस्माद्राजानो नावमन्तव्याः इति क्षुद्रज्ञान्प्रतिषेधयेत्।

† देखो हिंदू राज्यतंत्र पहला भाग §१७६ की पाद-टिप्पणी।

नितांत स्वेच्छाचारी होता है अथवा उसे स्वेच्छाचारी होना चाहिए। उक्त उद्धरण में दैवी दंड का जो उल्लेख है, उसका अभिप्राय केवल यही है कि जो पाप या अपराध किया जाता है, उसका दंड दैव की ओर से अवश्य मिलता है। और राजा के साथ द्रोह अथवा छल करना सदा पाप समझा जाता था। ऊपर राजकीय गुप्तचर ने किसी स्वेच्छाचार का प्रतिपादन नहीं किया है। वह केवल इसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि राजा का पद इंद्र और यम के पद के समान है; और यदि लोग राजा के विरुद्ध आचरण करेंगे, तो वे कितना बड़ा पाप करेंगे। परंतु मानव धर्मशास्त्रकार ने राजा को स्वयं महान् देवता बना दिया है; और कहा है कि यदि उसका अवमान किया जायगा, तो स्वेच्छाचारिता के बल से उसका दंड दिया जायगा। और इसी लिये उसने पूर्ण स्वेच्छाचारिता का प्रतिपादन किया है*।

---

* मानव धर्मशास्त्र ७. ९-१३.

एकमेव दहत्यग्निर्नं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम्॥ ६॥
कार्यं चावेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्म्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥१०॥

मानवधर्म-शास्त्रकार को यह प्रतिपादन केवल इसी लिये करना पड़ा था कि वह एक ऐसी असाधारण अवस्था का समर्थन करना चाहता था जो धर्म और परंपरागत प्रथा के बिलकुल विरुद्ध थी, अर्थात् उसे ब्राह्मणों द्वारा होनेवाले राजनीतिक शासन का समर्थन करना था*।

§ २४५. मानव-धर्मशास्त्र का यह सिद्धांत बाद के किसी धर्मशास्त्र में न तो मान्य हुआ था और न गृहीत हुआ था। राष्ट्र-संघटन का विधान करनेवाले जितने लेखक थे, उन सब ने इस सिद्धांत को यही रूप दिया था कि ईश्वर ने राजा की सृष्टि प्रजा की सेवा करने के लिये ही की है†। अर्थात् राजा अपनी प्रजा का केवल सेवक या दास था

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥
तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥
तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु संव्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्ठेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥१३॥

* जायसवाल Tagore Law Lectures on Manu & Yajnavalkya. II.

† देखो आगे पैंतीसवाँ और छत्तीसवाँ प्रकरण।

और ब्रह्मा ने इसी कार्य के लिये उसकी सृष्टि की थी। स्वयं मानव-धर्मशास्त्र में ही या तो उस समय, जब कि वह दोहराया गया था और वर्तमान रूप में लाया गया था, और या आरंभ में ही, जब कि मौर्यों की अधिकार-च्युति को न्यायपूर्ण सिद्ध करने का विचार था, उक्त सिद्धांत को दबाकर नीचे लिखा दूसरा सिद्धांत दिया गया था; और वह पहले सिद्धांत के ठीक नीचे ही रखा गया था—

"ईश्वर ने स्वयं अपने पुत्र की सृष्टि की और उसे समस्त भूतों की रक्षा के लिये धर्म बनाया। वह धर्म की व्यवस्था के लिये दंड-स्वरूप और स्वयं ब्रह्म के तेज से तेजोमय था* ।"

"स्वयं धर्म की व्यवस्था या शासन ही वास्तविक राजा है। वही दंड अर्थात् शासन का प्रधान अधिकारी और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू या रक्षक है† ।"

---

* मानवधर्मशास्त्र ७. १४.
तदर्थं सर्व भूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥

† मानव-धर्म्मशास्त्र ७. १७.
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्म्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥

"जो राजा सम्यक् रूप से इसका पालन करता है, वह सब प्रकार से अभिवर्द्धित होता है; परंतु यदि वह स्वार्थी, विषम और क्षुद्र या छली होता है, तो उसका हनन स्वयं दंड ही करता है* ।"

"दंड ही महत् तेज है। दुर्धर लोग उसे धारण नहीं कर सकते। जो राजा धर्म से विचलित होता है, दंड उसका बंधु-बांधवों सहित नाश कर देता है† ।"

इस प्रकार राजा फिर धर्म और दंड के अधीन कर दिया गया है। वह अपनी उसी मानव और प्रणात्मक स्थिति पर पहुँचा दिया गया है। अधिक उच्च मूल स्वयं धर्म का ही रखा गया है। राजा अनेक देवताओं के अंशों का समूह था; और धर्म तथा दंड की सृष्टि स्वयं ब्रह्मा ने की थी और वह उसका पुत्र था। वह धर्म या दंड जिस प्रकार समस्त संसार पर शासन करने के लिये आया

---

* मानव-धर्म्मशास्त्र ७. २७.
तं राजा प्रणयन्सम्यक्त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥

† मानव-धर्म्मशास्त्र ७. २८.
दण्डोहि सुमहत्तेजो दुधर्रश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥

था, उसी प्रकार स्वयं राजा पर भी शासन करने के लिये आया था। राजा वास्तव में राजा नहीं था, बल्कि धर्म या दंड ही वास्तविक राजा था। यदि सच पूछा जाय तो मानव धर्मशास्त्र ने इस सिद्धांत को फिर उसी पुरानी स्थिति पर पहुँचा दिया था, क्योंकि आगे चलकर उसमें कहा गया है—

"दंड धारण करने का अधिकारी केवल वही राजा होता है जो शुचि और राज्याभिषेक संबंधी प्रतिज्ञा के लिये सत्यसंध और शास्त्रों का अनुसरण करनेवाला होता है और बुद्धिमानों की सहायता से शासन करता है। जो राजा स्वेच्छाचारी, लोभी और मूढ़ होता है तथा बिना किसी की सहायता के स्वेच्छापूर्वक शासन करता है, वह न्याय की दृष्टि से दंड धारण करने का अधिकारी नहीं होता* ।"

राजा से केवल यही आशा नहीं की जाती थी कि वह अपनी राज्याभिषेक संबंधी प्रतिज्ञा पर सत्यतापूर्वक आरूढ़

---

* मानव-धर्म्मशास्त्र ७. ३०-३१.

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
दण्डः प्रणयितुं शक्तः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

रहेगा*, बल्कि उस पर इस कर्तव्य का भी भार रखा जाता था कि वह अपने सहायकों के साथ मिलकर काम करे और कभी बिना किसी की सहायता के या स्वेच्छापूर्वक शासन न करे। आगे चलकर जब हम हिंदू मंत्रित्व की वैधानिक स्थिति का विवेचन करेंगे, तब इसका ठीक ठीक महत्त्व बतलावेंगे।

§ २४६. राजा के दैवी मूल का सिद्धांत और राजा का दैवी अधिकार हिंदू भारतवर्ष में उसी दशा में स्थापित हो सकता था, जब प्रजा इसमें पूरी-पूरी दिलचस्पी न लेती होती; और इस प्रकार के हानिकारक विचारों और दावों को रोकने के लिये उसमें राष्ट्र-विधान संबंधी प्रतियोगिता न होती। हिंदू एकराजता के सिद्धांत को लोगों ने इतना गिरने नहीं दिया था कि वह एक-राजता दैवी रूप धारण कर लेती और अपवित्र स्वेच्छाचारिता बन जाती। स्वयं ब्रह्मा के नाम पर हिंदू राजा के लिये मनमानी करना संभव नहीं था; क्योंकि राष्ट्र कभी ब्राह्मणत्व को राजा या शासक के पद के साथ सम्मिलित नहीं होने देता था। हिंदू राजा का दंड जो कभी मदारी

* राज्याभिषेक संबंधी प्रतिज्ञा के साथ 'सत्यसंध' का संबंध जानने के लिये देखो अर्थशास्त्र पृ० ३१२. यहाँ उसका संकेत राज्याभिषेक संबंधी प्रतिज्ञा की ओर ही है।

के हाथ का डंडा नहीं बन सका था, उसका कारण केवल यही था कि राजा के शासन संबंधी अधिकारों का विषय वास्तव में याज्ञिकों और ब्राह्मणों आदि के क्षेत्र के सदा बाहर रहता था। वह विषय उन्हीं लोगों के हाथ में रहता था जिनके बल से राजा बलवान् हुआ करता था अथवा जिनके द्वारा उसे अधिकार प्राप्त होता था। आरंभ में इस विषय का अधिकार समिति के हाथ में रहता था; और उसके उपरांत परवर्ती काल में पौर और जानपद संस्थाओं के हाथ में रहता था, जिनका महत्त्व समिति के समान ही होता था।

———

सत्ताईसवाँ प्रकरण

जानपद और पौर

ई० पू० ६०० से ६०० ई० तक

§ २४७. जिस समय बड़े-बड़े एकराज राज्यों का उदय होने लगा था, उसी समय एक ऐसी सार्वजनिक संस्था का भी विकास हुआ था, जो राष्ट्र के विधान की दृष्टि से बहुत महत्त्व की थी। वैदिक काल के उपरांत महाभारत युद्ध के समय से लेकर बृहद्रथों के अंत तक (ई० पू० ७००)* ऐसे ही राज्य थे, जिनका विस्तार अलग अलग जातियों और उनके बसने के देशों तक ही था। उस काल को हम राष्ट्रीय राज्यों का काल कह सकते हैं। उदाहरणार्थ भरतों† और

सीमा-पर और सीमित एक-राज्य

---

* जायसवाल J. B. O. R. S. खंड ४, पृ० १६, ३५; २६२.

† मिलाओ यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता। एष वो भरता राजा। १. ८. १०.

पंचालों* में अपने-अपने राष्ट्रीय या जातीय राजा हुआ करते थे। यही बात विदेहों के संबंध में भी थी। ऐक्ष्वाकों† नामक जाति में (ऐतरेय ब्राह्मण के समय से पतंजलि के समय तक) भी उन्हीं का सजातीय राजा हुआ करता था। अर्थात् उन दिनों अलग-अलग जातियाँ होती थीं और उन्हीं जातियों के लोग उनके शासक होते थे। सन् ६०० ई० पू० में हम भारतीय राज्यों के विकास में एक ऐसी प्रवृत्ति पाते हैं जिसमें राज्य का आधार अलग-अलग जातियाँ नहीं होतीं, बल्कि देशों की सीमाएँ होती हैं। अर्थात् राज्य अलग-अलग जातियों के नहीं रह गए थे, बल्कि देशों और उनकी सीमाओं के विचार से होने लगे थे। राज्य का जातीय आधार धीरे-धीरे दूर होने लगा था और एक जाति दूसरी जातियों और उनके स्थानों पर आक्रमण करके उन्हें अपने में मिलाने का प्रयत्न करने लगी थी। उस समय ऐसे बड़े-बड़े राज्य उत्पन्न होने लगे थे जो किसी एक जाति के नहीं होते थे, बल्कि कुछ विशिष्ट देशों और सीमाओं के होते थे। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि, पुराने ऐक्ष्वाक जानपद ने परिवर्तित

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २.

† ऐतरेय ब्राह्मण ७. १३. १६. पाणिनि ४. २. १०४ पर पतंजलि का भाष्य।

होकर काशी-कोशल* का रूप धारण कर लिया था और मगध राज्य में मगध तथा अंग नामक देश सम्मिलित हो गए थे†। ई० पू० ५५० और ई० पू० ३०० के बीच में यह क्रिया बहुत जल्दी-जल्दी होने लग गई थी। इसके लिये पहले से ही दार्शनिक ढंग से जमीन तैयार हो चुकी थी। यद्यपि महात्मा बुद्ध का जन्म एक प्रजा-तंत्री राज्य में हुआ था, तथापि उनकी आकांक्षा यही थी कि हमारे धर्म और अनुयायियों का एक-राज्यात्मक साम्राज्य स्थापित हो‡। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसा

---

* जैन सूत्र आचारांग। दे० पहला भाग पृ० ८५. Buddhist India पृ० २४-२५. ओल्डन-बर्ग द्वारा उद्धृत जनवसभ सुत्त; Buddha (अँगरेजी अनुवाद) पृ० ४०७ की पाद-टिप्पणी। साथ ही देखो गोपथ ब्राह्मण २. ९. में काशी-कौशल्य का एक राज्य के रूप में उल्लेख।

† Buddhist India पृ० २४. गोपथ ब्राह्मण २. ९.

‡ संभवतः वे धर्म को उसका उतना अधिक आधार नहीं बनाना चाहते थे, जितना दर्शन को। जैसा कि मेगास्थनीज ने बतलाया है, इन दोनों में बहुत सूक्ष्म अंतर था। हाँ अशोक ने अवश्य ही उसे धर्म, और वह भी संसार-व्यापी धर्म, बना दिया था।

साम्राज्य स्थापित करने का उपदेश दिया गया था जो समुद्र तक विस्तृत हो। जातक कथाएँ भी समस्त भारत के एक साम्राज्य के विचार और आदर्श से भरी हुई हैं (सकल जम्बूदीपे एक-रज्जम)।

§ २४८. बड़े-बड़े राज्यों या साम्राज्यों के समय जाति, विश् या जन की अपेक्षा देश का महत्त्व अधिक बढ़ गया था*। आरंभ में 'जनपद' शब्द का शब्दार्थ और आशय भी जन या जाति का निवास-स्थान ही था; और आगे चलकर इस शब्द से समस्त जाति का भी बोध होने लगा था। परंतु अब इस शब्द का पुराना अर्थ नहीं रह गया था और उसका अर्थ वही हो गया था, जिसे आजकल हम लोग देश कहते हैं† और उसके अर्थ में उस देश में बसनेवाली जातियों आदि की ओर कोई संकेत नहीं होता था। बड़े-बड़े एकराज राज्यों के समय में हमें कभी समिति का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता‡। और यह बात

---

* देखो आगे "हिंदू-साम्राज्य-प्रणाली" पर अड़तीसवाँ प्रकरण।

† देखो अर्थशास्त्र पृ० ४५ और ४६ की पाद-टिप्पणी। जन-पदो देशः।

‡ जातकों में समिति का कहीं पता नहीं है। यदि वास्तव में उस समय समिति का अस्तित्व होता, तो उसमें

बिलकुल स्वाभाविक भी है। समिति का आधार कोई एक जाति होती थी; और अब राष्ट्र-विधान में जातीयता का कोई भाव रह ही नहीं गया था।

जानपद सभा का उदय

§ २४९. हाँ, इसके स्थान पर हमें एक दूसरी संस्था मिलती है जो संभवतः प्राचीन समिति का परिवर्तित परिस्थितियों में अवतार या दूसरा रूप थी। ई० पू० सन् ६०० से सन् ६०० ई० तक के समय में राज्य के दो विभाग हुआ करते थे—एक राजधानी और दूसरा देश*। राजधानी को पुर†

बहुत से ऐसे स्थल थे जिनमें उसका उल्लेख हो सकता था। धर्मसूत्रों में जहाँ राजा के कर्तव्य बतलाए गए हैं, वहाँ भी यह नहीं बतलाया गया है कि समिति के साथ राजा को किस प्रकार का संबंध रखना चाहिए; और न महाभारत में ही कहीं इसका विवेचन है।

* जातकों और पाली पिटक में जनपद और निगम का उल्लेख है। राष्ट्र-विधान की दृष्टि से निगम और नगर एक ही हैं। अर्थशास्त्र में जनपद और दुर्ग आया है। रामायण में नगर (और दुर्ग भी) तथा जनपद आया है। (वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति। २. ७६. १२.)

† पुरं मुख्यनगरम्। वीरमित्रोदय, पृ० ११।

या नगर* कहते थे; और कभी-कभी दुर्ग† भी कहते थे और देश को जनपद कहते थे, जिसका पर्याय राष्ट्र या देश होता था। जानपद शब्द जनपद से निकला है और इसका व्यवहार पाली भाषा के बौद्ध त्रिपिटक, रामायण, महाभारत और दूसरे ग्रंथों तथा शिलालेखों में पाया जाता है। आज-कल इसका अर्थ जनपद का निवासी लिया जाता है। अब पुराने पारिभाषिक अर्थ में इसका व्यवहार नहीं होता। इसका कारण यही है कि यह शब्द बहुधा बहुवचन (जान-पदाः) रूप में पाया जाता है, जिसका अनुवाद किया जाता है "जनपद के निवासी"। आधुनिक लेखकों ने जनपद के संबंध में एक और भूल यह की है कि वे जनपद का अर्थ प्रांत या भू-भाग करते हैं जो समस्त प्राचीन प्रमाणों के बिलकुल विरुद्ध है। राष्ट्र-विधान की दृष्टि से इसका अर्थ है—किसी राज्य की वह समस्त भूमि जिसमें केवल राजधानी या राजनगर सम्मिलित नहीं है‡। इस दृष्टि से और

* मिलाओ अर्थशास्त्र पृ० ४६, पाद-टिप्पणी। नगरं राजधानी।

† मिलाओ आधुनिक "गढ़" (किला) जो शासक के निवास-स्थान का सूचक है। साथ ही मिलाओ जर्मन Schless.

‡ अर्थशास्त्र पृ० ४५-४६, पाद-टिप्पणी।

एक सामूहिक संस्था के रूप में जानपद शब्द का अर्थ खारवेल के ई० पू० १६५ वाले शिलालेख से भली भाँति प्रमाणित हो गया है*। मध्य युग के टीकाकार यह नहीं जानते थे कि जानपद एक सामूहिक संस्था का नाम था; इसलिये उन्होंने इस एकवचन शब्द को "जानपदाः" का बहुवचन रूप देकर मानों शुद्ध कर दिया था। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण रामायण, अयोध्या कांड के चौदहवें अध्याय का ५४ वाँ श्लोक है†। महाराज दशरथ की सेवा में यह निवेदन करने के लिये कहा जाता है कि—"पौर, जानपद और नैगम अंजलि-बद्ध होकर राम के यौवराज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" इसमें की "उपतिष्ठति" (प्रतीक्षा करता है) क्रिया एक-वचन है; अतः

---

* जायसवाल J. B. O. R. S. (१६१७) ३. पृ० ४५१।

† उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृतांजलिः ॥२.१४.५४।

'उपतिष्ठत' पाठांतर के संबंध में गोविंदराज ने अपनी टीका में कहा है—उदोऽनूर्ध्वकर्म्मणि इत्यात्मनेपदम्। उपस्थितमित्यर्थ।...उपतिष्ठतीति पाठांतरम्। कुंभकोणम् की चार हस्तलिखित प्रतियों में 'उपतिष्ठति' ही पाठ है।

यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक कारक में इसके कर्त्ता एक-वचन रहें और वे "च" से संबद्ध हों। परंतु मूल में केवल नैगम (राजधानी के व्यापारियों आदि की सभा या संस्था) शब्द एकवचन में रखा गया है और जानपद शब्द बहुवचन कर्त्ता कारक तथा बहुवचन करण कारक रूप में रखा गया है*। यह करण कारक रूप व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध रखने के लिये लाया गया है (नैगम के साथ सब जानपद)। इसका शुद्ध पाठ एकवचन कर्त्ता के रूप में जानपदश्च है, जो अब तक कुछ हस्तलिखित प्रतियों में पाया जाता है। परंतु आधुनिक संपादक इसे अशुद्ध समझकर इसका तिरस्कार कर देते हैं†।

§ २५०. बहुवचन जानपदाः से दोनों भाव सूचित हो सकते हैं—एक तो जानपद संस्था के सदस्य और दूसरे जनपद के लोग या निवासी। परंतु यह बहुवचन रूप यह

---

* पौरजानपदश्चापि नैगमैश्च कृतांजलिः या कृतात्मभिः। कुंभकोणम् संस्करण का पाठांतर।

† देखो श्रीयुक्त कृष्णाचार्य और व्यासाचार्य वाला रामायण का आलोचनात्मक संस्करण १. पृ० ६८. (हस्तलिखित प्रति "ट") जो वास्तव में एक बहुत बहुमूल्य संस्करण है।

भी सूचित कर सकता है कि इस नाम की कोई संस्था थी। यदि हमें यह पद कहीं एकवचन में मिल जाय और उससे किसी एक व्यक्ति का भाव न सूचित होकर कोई सामूहिक अर्थ सूचित होता हो अथवा सामूहिक भाव का सूचक बहुवचन जानपदाः ही मिल जाय, तो यह बात सिद्ध हो जायगी कि जानपद नाम की कोई संस्था थी। हमें इन दोनों प्रकारों के प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त हमें इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि जानपद नाम की सामूहिक संस्थाएँ थीं और उनके अपने ऐसे नियम या कानून आदि भी थे जो धर्मशास्त्रों में भी मान्य होते थे।

खारवेल के हाथीगुम्फावाले शिलालेख में इसका एक ऐसा प्रमाण मिलता है जिसके संबंध में किसी प्रकार की शंका या विवाद हो ही नहीं सकता। उसमें कहा गया है कि महाराज खारवेल ने जानपद (एकवचन रूप जानपदं) के साथ कुछ रिआयतें की थीं अथवा उसे कुछ विशिष्ट अधिकार दिए थे। ऊपर रामायण के जिस प्रमाण का उल्लेख किया गया है, वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। जानपद युवराज के राज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहा था। रामायण के अनुसार जानपदों ने पौरों तथा अन्यान्य लोगों के साथ मिलकर और परामर्श करके इस प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के संबंध में सर्व-सम्मति से निर्णय कर लिया था।

उनका निश्चय इस प्रकार था—"हम लोग चाहते हैं की यह अभिषेक हो* ।"

मानव धर्मशास्त्र में जाति†, जानपद और श्रेणी‡ के नियम या कानून मान्य किए गए हैं। इस बात में किसी

---

* रामायण, अयोध्या कांड, अध्याय २, श्लोक २०-२२ ।

समेत्य ते मन्त्रयित्वा समतांगतबुद्धयः ।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥

....

स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिव ।
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥

साथ ही देखो इसके उत्तर में दशरथ का कथन—

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुपालति ।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥

† मनु ८. ४१ ।

जातिजानपदान्धर्म्माञ्श्रेणीधर्म्मांश्च धर्म्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥

‡ श्रेणी का शब्दार्थ है "पंक्ति"। जान पड़ता है कि सदस्य लोग पंक्तियों में बैठा करते थे, इसी कारण इस सामूहिक संस्था का नाम श्रेणी पड़ा था। संभवतः आरंभ

प्रकार का संदेह नहीं है कि इस वर्ग की अन्य दो संस्थाएँ सामूहिक संस्थाएँ हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी जानपदों, गणों, श्रेणियों और जातियों का सामूहिक संस्थाओं के ही रूप में उल्लेख हुआ है; और कहा गया है कि इन्हें स्वयं अपने नियमों का भी पालन करने के लिये विवश किया जाना चाहिए*। मांडलिक ने स्मृतिकार की सच्ची

में श्रेणी शब्द से उन सभी संस्थाओं का बोध होता था जो एकत्र होकर अपना अधिवेशन करती थीं और उसमें अपने संबंध का कोई काम करती थीं। महाभारत के पुराने श्लोकों (सभापर्व १४, ४. कुंभकोणम् संस्करण) में श्रेणीबद्धाः राजानः पद मिलता है, जिसका अर्थ है—श्रेणी बाँधकर बैठे हुए राजा लोग।

राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि।

इससे या तो प्रजातन्त्र के शासकों या सैनिक-संघटन का आशय हो सकता है। अर्थशास्त्र में "श्रेणी" शब्द सैनिक विभाग के अर्थ में आया है। धर्मशास्त्रों, साधारण साहित्य और शिलालेखों में श्रेणी का पारिभाषिक अर्थ 'कारीगरों या व्यवसायियों आदि की पंचायत' होता है।

* याज्ञवल्क्य १. ३६० और ३६१.

व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्।
कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ॥३६०॥

सूक्ष्मदर्शिता के कारण जानपदाः शब्द का बिना अनुवाद किए ही उसे छोड़ दिया है और उसका उल्लेख भी गण और श्रेणी आदि पारिभाषिक शब्दों की ही भाँति किया है। स्मृतियों के इन दोनों ही श्लोकों में 'कुल' नाम की एक और संस्था का भी उल्लेख है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि 'कुल' नाम की एक शासन-प्रणाली थी। कुल का वास्तविक स्वरूप या अभिप्राय समझने के लिये हमें उक्त विषय के और उक्त श्लोकों से मिलते-जुलते अर्थशास्त्र के कुछ उल्लेखों पर विचार करना चाहिए। 'समय'* अथवा सामूहिक संस्थाओं के निश्चयोंवाले प्रकरण (पृ० १७३) में कौटिल्य ने देश-संघ, जाति-संघ और कुल-संघ के समय या निश्चित प्रस्तावों का उल्लेख किया है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, कुल-संघ हिंदू-राजनीति का पारिभाषिक शब्द है†। इसका अर्थ है—वह राष्ट्र-विधान

स्वधर्म्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि।
ग्रामश्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया ॥३६१॥
वीरमित्रोदय पृ० ४२४ में बृहस्पति का उद्धरण।

देखो आगे।

* देशजातिकुलसंघानां समयस्यानपाकर्म।

† देखो इस पुस्तक का पहला भाग § ८७।

प्रकार का संदेह नहीं है कि इस वर्ग की अन्य दो संस्थाएँ सामूहिक संस्थाएँ हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी जानपदों, गणों, श्रेणियों और जातियों का सामूहिक संस्थाओं के ही रूप में उल्लेख हुआ है; और कहा गया है कि इन्हें स्वयं अपने नियमों का भी पालन करने के लिये विवश किया जाना चाहिए*। मांडलिक ने स्मृतिकार की सच्ची

में श्रेणी शब्द से उन सभी संस्थाओं का बोध होता था जो एकत्र होकर अपना अधिवेशन करती थीं और उसमें अपने संबंध का कोई काम करती थीं। महाभारत के पुराने श्लोकों (सभापर्व १४, ४. कुंभकोणम् संस्करण) में श्रेणीबद्धाः राजानः पद मिलता है, जिसका अर्थ है—श्रेणी बाँधकर बैठे हुए राजा लोग।

राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि।

इससे या तो प्रजातन्त्र के शासकों या सैनिक-संघटन का आशय हो सकता है। अर्थशास्त्र में "श्रेणी" शब्द सैनिक विभाग के अर्थ में आया है। धर्मशास्त्रों, साधारण साहित्य और शिलालेखों में श्रेणी का पारिभाषिक अर्थ 'कारीगरों या व्यवसायियों आदि की पंचायत' होता है।

* याज्ञवल्क्य १. ३६० और ३६१.

व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्।
कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ॥३६०॥

सूक्ष्मदर्शिता के कारण जानपदाः शब्द का बिना अनुवाद किए ही उसे छोड़ दिया है और उसका उल्लेख भी गण और श्रेणी आदि पारिभाषिक शब्दों की ही भाँति किया है। स्मृतियों के इन दोनों ही श्लोकों में 'कुल' नाम की एक और संस्था का भी उल्लेख है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि 'कुल' नाम की एक शासन-प्रणाली थी। कुल का वास्तविक स्वरूप या अभिप्राय समझने के लिये हमें उक्त विषय के और उक्त श्लोकों से मिलते-जुलते अर्थशास्त्र के कुछ उल्लेखों पर विचार करना चाहिए। 'समय'* अथवा सामूहिक संस्थाओं के निश्चयोंवाले प्रकरण (पृ० १७३) में कौटिल्य ने देश-संघ, जाति-संघ और कुल-संघ के समय या निश्चित प्रस्तावों का उल्लेख किया है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, कुल-संघ हिंदू-राजनीति का पारिभाषिक शब्द है†। इसका अर्थ है—वह राष्ट्र-विधान

स्वधर्म्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि।
ग्रामश्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया ॥३६१॥
वीरमित्रोदय पृ० ४२४ में बृहस्पति का उद्धरण।

देखो आगे।

* देशजातिकुलसंघानां समयस्यानपाकर्म।

† देखो इस पुस्तक का पहला भाग § ८७।

हुए प्रमाणों से प्रमाणित होता है कि मनु और याज्ञवल्क्य का जानपद और मनु तथा कौटिल्य का देश-संघ दोनों एक ही हैं। जानपद या देश-संघ नामक सामूहिक संस्था के नाम से ही यह सूचित होता है कि वह एक समस्त देश की संस्था थी; परंतु, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, केवल राजनगर या पुर उसमें सम्मिलित नहीं था।

§ २५१. जानपद का एक और पर्याय 'राष्ट्र' भी है जो परवर्ती ग्रंथों में पाया जाता है। दशकुमारचरित (अध्याय ३) में जानपद के सभापति का नाम जानपद-

---

द्वित्रिलिपिज्ञः स्वकृतेन स्वलेख्येन युक्तिभिः।
कुर्याद्धि सदृशं लेख्यं तस्माज् जानपदं शुभम्॥
देशाध्यक्षादिना लेख्यं यत्र जानपदं कृतम्॥

व्यास को इस बात की आशंका थी कि कोई लेख लिखनेवाला स्वयं ही लिखकर पीछे से इन्कार भी कर सकता है; क्योंकि धूर्त व्यक्ति कई तरह की लिखावटें लिख सकता है; इसलिए जानपद लेख, जो देशाध्यक्ष या दूसरे अधिकारियों द्वारा "कृत" अर्थात् रजिस्टरी किया हुआ हो, (विष्णु ७. ३. राजाधिकरण तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षकरचिह्नितं राजसाक्षितं) एक अच्छा प्रमाण माना जाता था। (देखो § २६६.)

महत्तर* दिया गया है; और आगे चलकर वही व्यक्ति राष्ट्रमुख्य कहा गया है।

मुझे मित्र मिश्र कृत याज्ञवल्क्य की एक अप्रकाशित टीका मिली थी† जिसमें अनादेय व्यवहार या ऐसे मुकदमों के प्रकरण में, जिनकी सुनवाई नहीं हो सकती, यह लिखा मिला था कि जो व्यक्ति पौर या राष्ट्र का द्रोही हो, उसके लाए हुए अभियोग की सुनवाई नहीं हो सकती। इसके प्रमाण में बृहस्पति का कथन उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार का एक श्लोक वीरमित्रोदय (व्यवहार, पृष्ठ ४४) में भी मिलता है, जिसमें पौर के स्थान पर पुर या राजधानी पाठ है। मित्र मिश्र ने पुर और राष्ट्र की व्याख्या

---

* मिलाओ रामायण २. ८३. ५. १५. ग्रामघोष-महत्तराः। रामटीका में कहा है—ग्रामे घोषे च वर्त्तमाना महत्तराः। गोविंदराज ने कहा है—महत्तराः प्रधानभूताः। (पतंजलि और कात्यायन के अनुसार घोष वह छोटा नगर या कस्बा होता था जिसके सामूहिक लक्षण और मुद्रा हुआ करती थी। देखो हिंदू राज्य-तंत्र पहला भाग, पृ० ६६ की पाद-टिप्पणी।)

† याज्ञवल्क्य की वीरमित्रोदय टीका, जो मुझे काशी के श्रीयुक्त (अब स्व०) बा० गोविंददासजी ने कृपा कर देखने के लिये दी थी।

करते हुए उसे पौर-जानपद बतलाया है। यहाँ भी 'राष्ट्र' शब्द उसी प्रकार जानपद संस्था के लिये आया है, जिस प्रकार दशकुमारचरित में आया है।

§ २५२. जानपद के कार्यों और अधिकारों आदि की विवेचना करने से पहले पौर के कार्यों और अधिकारों आदि का विवेचन कर लेना अधिक उत्तम होगा। राष्ट्र-विधान के विषयों में पौर संस्था जानपद संस्था की यमज बहन ही है। इन दोनों का सदा साथ ही साथ उल्लेख होता है; और कभी कभी तो एक ही दोनों की सूचक हुआ करती है।

पौर

भारतीय और युरोपीय दोनों ही लेखकों ने पौर का अनुवाद करते हुए लिखा है कि यह संस्था राज्य के समस्त नगरों से संबंध रखती थी। पर वास्तव में यह बात नहीं है। आरंभिक हिंदू लेखक पारिभाषिक शब्द पुर और नगर से राजधानी या राजनगर का अभिप्राय लेते थे। खारवेल (ई० पू० १६५ के लगभग) के शिलालेख में सामूहिक संस्था के रूप में पौर का उल्लेख भी जानपद की भाँति एकवचन में हुआ है*। खारवेल ने पौर को कुछ विशिष्ट अधिकार प्रदान किए थे। दिव्यावदान में भी उस स्थान

---

* J. B. O. R. S. ३. ४२।

पर सामूहिक संस्था के रूप में पौर का स्पष्ट उल्लेख है, जहाँ कुणाल का पौर (एकवचन, अर्थात् पौर सभा) में प्रवेश करने का वर्णन है। दिव्यावदान के अनुसार तिष्यरक्षिता ने अपना जाली पत्र पौरों अर्थात् कुछ संघटित संस्थाओं के नाम लिखा था*। वीरमित्रोदय के कर्त्ता ने निश्चित रूप से यह बतलाया है कि पौर, जिसका नाम स्मृतियों और धर्मशास्त्रों आदि में सामूहिक संस्थाओं के साथ आता है, राजधानी के निवासियों की सभा या संस्था थी†।

पुर का अर्थ राजधानी है (§ २५३)। हिंदू धर्म-शास्त्रों में "समूह" एक प्रसिद्ध राष्ट्र-संघटन संबंधी पारिभाषिक शब्द है। उदाहरणार्थ कात्यायन ने पूग की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह व्यापारियों तथा अन्य लोगों का "समूह" है‡ और इसका अर्थ श्रेणी के समान ही माना भी जाता है। धर्मशास्त्रकार बृहस्पति ने पूग, गण, संघ आदि ऐसी संस्थाओं का उल्लेख करते हुए, जिन्हें हम सभाओं द्वारा

---

* दिव्यावदान पृ० ४१० ।

† पौरः पुरवासिनां समूहः । वीरमित्रोदय पृ० ११ ।

‡ समूहः वणिजादीनां पूगः संप्रकीर्तितः । चंडेश्वर द्वारा उद्धृत। विवादरत्नाकर पृ० ६६६ ।

नियन्त्रित संस्थाओं के रूप में जानते हैं*, उन्हें समूहस्थ वर्ग (§ २५८) या सामूहिक संस्थाएँ बतलाया है। मित्र मिश्र ने भृगु के आधार पर एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें ग्राम, पौर, गण और श्रेणी को वर्गिन् या वर्गी कहा है और जिसका वही अभिप्राय है जो बृहस्पति के समूहस्थ वर्ग का अभिप्राय है‡। [यहाँ ग्राम से मतलब साधारण गाँव का नहीं है, बल्कि गाँववालों की सभा का अभिप्राय है, जैसा कि मिथिला के धर्मशास्त्रकार चंडेश्वर ने उसकी व्याख्या में बतलाया है। ग्रामो ग्रामवासी समूहः पृ० १७६।] चंडेश्वर ने समूहस्थाः का आशय समझाते हुए मिलिताः लिखा है, जिसका अर्थ है—जिसमें सब लोग मिले हों +। कात्यायन ने समूहों के अलग नियमों

---

* अर्थात् जैनों और बौद्धों का समूह। आर्हतसौगतानां तु समूहः संघ उच्यते। विवादरत्नाकर में कात्यायन पृ० ६६६।

† गणपाषण्डपूगाश्च व्राता च श्रेणयस्तथा।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः। उक्त ग्रंथ

‡ ग्रामपौरगणश्रेण्यश्चतुर्विधाश्च वर्गिणः। वीरमित्रोदय (व्यवहार) पृ० ११।

\+ विवादरत्नाकर पृ० ६५३. (समूहस्था मिलिताः)

या कानूनों का उल्लेख किया है* । समूह का साधारण अर्थ तो बहुत से लोगों का जमाव है ही; पर यहाँ राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से उसका एक पारिभाषिक अर्थ है जिसका अभिप्राय है—संघटित संस्था या सभा आदि† ।

अमर और कात्य दोनों कोषकारों ने 'प्रकृति' के अर्थ बतलाते हुए कहा है कि इस शब्द का अन्यान्य अर्थों के अतिरिक्त एक अर्थ पौर भी है, अर्थात् पौरों की श्रेणियाँ ‡ ।

---

* समूहानां तु यो धर्मस्तेन धर्मेण ते सदा । विवाद-रत्नाकर पृ० १८०.

† मिलाओ दूसरी सामूहिक संस्था "सार्थ" पर मित्र मिश्र की व्याख्या । मिलितो जनसंघः । "लोगों के मिलने से बनी हुई सभा या संस्था ।" वीरमित्रोदय पृ० ११.

याज्ञवल्क्य ने ऐसे लोगों को दंड देने का विधान किया है जो समूह के शुभचिंतकों के निश्चय के विरुद्ध काम करते हों । वीरमित्रोदय पृ० १७६.

कात्यायन ने यह भी बतलाया है कि जब समूह और उसके नेता में झगड़ा हो, तब क्या करना चाहिए । विवाद-रत्नाकर पृ० १८४.

‡ अमात्याश्चापि पौराश्च सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः । अमर २. ८. १८. पर क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत कात्य का

रामायण में जहाँ रामचंद्र के अयोध्या लौटने से इन्कार करने का प्रकरण है, वहाँ भरत ने पौर-जानपद संस्था से इस प्रकार पूछा है—

"श्रीमान् इस संबंध में क्या आज्ञा देते हैं*।" वह संस्था राम के तर्क को ठीक समझती है, जिस पर उसे संबोधन करते हुए भरत कहते हैं—हे मेरे परिषद, आप कृपा कर सुनें†।

इस प्रकार यहाँ उस संस्था का सामूहिक रूप स्पष्ट और प्रमुख है।

§ २५३. पौर वास्तव में नगरनिवासियों की एक सभा या संस्था थी, जिसे राज-नगर की आंतरिक व्यवस्था आदि का उसी प्रकार अधिकार प्राप्त होता था, जिस प्रकार आजकल की म्युनिसिपैल्टियों को प्राप्त होता

वचन। राज्यांगानि प्रकृतयः पौराणां श्रेण्योऽपि च। त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज सं० ५१. पृ० ६६.

* आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम्।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्य अनुशासथ॥
रामायण अयो० का० ३. १९.

† शृण्वंतु मे परिषदः मंत्रिणः शृणुयुस्तथा। उक्त ग्रंथ और कांड; २४.

है*। नगर की इस प्रकार की म्युनिसिपल व्यवस्था करने

---

* मिलाओ—मंदौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। शाकुंतला दूसरा अंक। पुरं मुख्यनगरम्। वीरमित्रोदय पृ० ११. साधारण बस्ती या कस्बे के लिये ग्राम शब्द है। यथा—ग्रामपौरगणश्रेण्यश्चातुर्विधाश्च वर्गिणः। उक्त ग्रंथ। अर्थशास्त्र में राजधानी के लिये 'नगर' और 'दुर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है और साधारण कस्बों या बस्तियों के लिये 'ग्राम' शब्द आया है। पाणिनि और पतंजलि में राजधानी के लिये नगर और पुर तथा साधारण कस्बे के लिये 'ग्राम' शब्द आया है। देखो पाणिनि ७. ३. १४. और उस पर काशिका। साथ ही ६. २. १००. कस्बे के लिये 'ग्राम' शब्द के व्यवहार पर पतंजलि का भाष्य। पाणिनि ४. २. १०४. पर शाकलं नाम वाहीकग्रामः। शाकल में पहले मद्रों की राजधानी थी, पर पुष्यमित्र के समय में वह नगर या राजनगर नहीं रह गया था। कदाचित् इसी लिये उसे साधारण कस्बा या ग्राम कहा गया है। साथ ही देखो अर्थशास्त्र पृ० ४६, पादटिप्पणी। नगरं राजधानी। वात्स्यायन के कामसूत्र (दूसरा अधिकरण, पचासवाँ अध्याय) में नागरिकाः की टीका करते हुए टीकाकार ने कहा है—नागरिका इति पाटलिपुत्रिकाः।

के अतिरिक्त उसे राष्ट्र के संघटन या व्यवस्था आदि के भी बड़े-बड़े अधिकार होते थे। पहले हमें पौर की म्युनिसिपल-व्यवस्था का ही विचार करना चाहिए।

§ २५४. इस सभा का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते हैं, हिंदुओं के काल में वह 'श्रेष्ठित्' या 'प्रधान' कहलाता था। रामायण के अनुसार पौर और जानपद में आभ्यंतर और

दुर्ग भी पुर का पर्याय ही था। मिलाओ नारद—संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा। वीरमित्रोदय पृ० ४२५. अशोक के शिलालेखों में 'नगर' शब्द प्रांतीय राज-धानियों के संबंध में भी आया है। मनु ७. २९. में राज्य को दुर्ग और राष्ट्र इन दो विभागों में विभक्त किया गया है। यथा—

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।

राजधानी के लिये दुर्ग और पुर का प्रयोग मनु ७.७०. में देखो—

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥

बाह्य ये दो विभाग या अंग हुआ करते थे *। आभ्यंतर सभा वास्तव में कार्यकारिणी सभा होती होगी, जो स्थायी रूप से स्थित होती थी। हमें प्रायः पौर-वृद्धों और नगर-वृद्धों का उल्लेख मिलता है। देश की सार्वजनिक संस्थाओं के समान रूपों के संबंध में हम यह भी कह सकते हैं कि पौर-वृद्ध पुर के वृद्धों की कार्यकारिणी सभा थी जो कदाचित् रामायण की आभ्यंतर सभा के समान या वही थी। धर्मसूत्रों

---

* आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥

अर्थात् राष्ट्र के सब लोग और पुर के सभी श्रेष्ठ लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार पौर-जानपद संस्था (आभ्यंतर भी और बाह्य भी) उनकी प्रशंसा करती है।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पौर जानपद संस्था का राष्ट्र और पुर के निवासियों से अलग और स्वतंत्र वर्णन किया गया है। महाभारत में भी आभ्यंतर और बाह्य इन दोनों विभागों का उल्लेख है। देखो आगे "कर" के संबंध में तेंतीसवाँ प्रकरण। सामूहिक अर्थ में 'जन' शब्द का प्रयोग अशोक के शिलालेख, स्तंभमाला ७ में देखो। वहाँ लिखा है—जनं धंमयुतं। अर्थात् धर्मसेवा (विभाग) में नियुक्त व्यक्तियों का समूह।

में साधारण सद्व्यवहार के नियमों में एक अपवाद यह भी है कि जो शूद्र पहले पौर संस्था का सदस्य रह चुका हो, उसका भी ब्राह्मण को विशेष रूप से आदर-सत्कार करना चाहिए*। इससे सूचित होता है कि पौर वास्तव में एक

---

* गौतम धर्मसूत्र (शास्त्र) ६. ९—११ ।

साधारणतः ब्राह्मण लोग शूद्रों का आदर नहीं करते। परंतु जब पौर का कोई भूतपूर्व सदस्य आता था, तो चाहे उसकी अवस्था अस्सी वर्ष से कम की ही होती थी, तो भी ब्राह्मण को उसके आदरार्थ उठकर खड़ा होना पड़ता था। इसके अतिरिक्त पंद्रहवें सूत्र में पौर के सदस्यों के आपस के व्यवहार के भी नियम दिए हैं। यदि उन सदस्यों में अवस्था के विचार से परस्पर दस वर्षों का भी अंतर होता था, तो भी वे आपस में एक दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करते थे, मानों सब का जन्म एक ही दिन हुआ हो।

ऋत्विक्श्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानं नाभिवाद्याः ॥ ९ ॥

तथान्यः पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन ॥१०॥
अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण ॥ ११ ॥
नाम चास्य वर्जयेत् ॥ १२ ॥
भो भवन्निति वयस्यः समानेऽहनि जातः ॥ १४ ॥
दशवर्षवृद्धः पौरः ॥ १५ ॥

सार्वजनिक संस्था थी और छोटी से छोटी जातियों के लोग भी उसमें प्रतिनिधि-स्वरूप रहते थे।

§ २५५. पौर में एक लेखक या रजिस्ट्रार भी हुआ करता था और वह जो लेख प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करता था, वह सर्वोत्कृष्ट प्रमाण समझा जाता था*। राजकीय लेख्यों के विपरीत लौकिक लेख्यों में पौर-लेखक का लेख्य प्रधान या मुख्य हुआ करता था। इससे सूचित होता है कि पौर-संस्था की नियुक्ति राजा के द्वारा नहीं होती थी।

धर्मशास्त्रों और स्मृतियों आदि में पौर के राजनीतिक से भिन्न जो कार्य लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं—

(क) जायदादों की व्यवस्था। राजा के द्वारा पौर के सदस्यों को इस बात का अधिकार प्राप्त होता था कि वे राजकीय अधिकारियों या कर्मचारियों के साथ मिलकर किसी मृ त व्यक्ति की जायदाद का प्रबंध करें†। (वशिष्ठ १६. २०.)

---

* वशिष्ठ (फुहरर-वाला संस्करण) पृ० ८४.

चिरकं नाम लिखितं पुराणैः पौरलेखकैः।

साथ ही देखो विष्णु संहिता ७. ३. और मिलाओ बंगाल के वंशों का अल्ल "पुर कायस्थ"।

† वशिष्ठ धर्मसूत्र (शास्त्र) १६. १६—२०।

(ख) नागरिकों का साम्पत्तिक बल बढ़ानेवाले (जिन्हें पौष्टिक* कार्य कहते थे) तथा इसी प्रकार के और और काम वे लोग करते थे।

(ग) नगर की शांति-रक्षा का कार्य (शांतिक*) अर्थात् नगर में पुलिस की व्यवस्था करने का काम उनके सपुर्द

प्रहीणद्रव्याणि राजगामीनि भवन्ति ॥ १६ ॥

ततोऽन्यथा राजा मन्त्रिभिः सह नागरैश्च कार्याणि कुर्यात् ॥२०॥

तथानाथदरिद्राणां संस्कारो यजनक्रिया। बृहस्पति, वीरमित्रोदय पृ० ४२५।

बालद्रव्यं ग्रामवृद्धाः वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात् देवद्रव्यं च।

ग्रामवृद्धों को चाहिए कि वे बालकों या नाबालिगों की सम्पत्ति तब तक बढ़ाते रहें, जब तक वे व्यवहार के अनुसार वयस्क या बालिग न हो जायँ। देवताओं के द्रव्यों के संबंध में भी उन्हें ऐसा ही करना चाहिए। अर्थशास्त्र, पृ० ४८।

* नित्यं नैमित्तिकं काम्यं शान्तिकं पौष्टिकं तथा।
पौराणां कर्म्मं कुर्युस्ते संदिग्धे निर्णयं तथा॥
—वीरमित्रोदय में बृहस्पति। पृ० ४२४।

होता था। ये दोनों प्रकार के कार्य या तो 'साधारण', या 'असाधारण' और या 'ऐच्छिक' कहे गए हैं।

(घ) न्याय या निर्णय का काम* जो कि अवश्य ही म्युनिसिपल-व्यवस्था के विषयों तक परिमित रहा होगा। फौजदारी या मार-पीट आदि के मुकदमे जो साहसवर्गी† के अंतर्गत आते थे, पौर न्यायालयों के अधिकार से विशेष रूप से बाहर रखे जाते थे। मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत एक वचन के अनुसार, जो कदाचित् भृगु का है, तथा दूसरों के वचनों के अनुसार भी, पौर-न्यायालय एक ऐसी संस्था थी जो राजा द्वारा मान्य होती थी।

(ङ) धर्म-स्थान तथा सार्वजनिक स्थान उनके अधिकार में होते थे। पौर को पुर या राजधानी के मंदिरों तथा

---

* चाटचौरभये बाधाः सर्वसाधारणाः स्मृताः।
तत्रोपशमनं कार्यं सर्वैर्नैकेन केनचित् ॥ वीर०।
साथ ही देखो नोट—संदिग्धे निर्णयं तथा। और।
ग्रामपौरगणश्रेण्यश्चातुर्विद्यश्च वर्गिणः।
कुलानि कुलिकाश्चैव नियुक्ता नृपतिस्तथा ॥
—वीरमित्रोदय पृ० ११।

† साहसन्यायवर्जानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्।
—वीरमित्रोदय में बृहस्पति, पृ० ४०।

अन्य पवित्र स्थानों की देख-रेख करनी पड़ती थी। वे इस प्रकार की इमारतों की मरम्मत आदि भी कराते थे। इन इमारतों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं—सभा, प्रपा, (पानी पिलाने के स्थान या पौसले), तटाक (सर्वसाधारण के नहाने के स्थान), आराम (वे मकान जिनमें लोग ठहरते या आराम करते थे) और देवगृह या मंदिर* ।

§ २५६. मेरा मत है कि मेगास्थिनीज ने पाटलिपुत्र की म्युनिसिपल सरकार का जो उल्लेख किया है, वह म्युनिसिपल सरकार हिंदू भारत की यही पौर संस्था है। स्ट्रैबो† ने पाटलिपुत्र का वर्णन देने के उपरांत उसकी शासन-व्यवस्था का वर्णन किया है। इस संबंध में सबसे अधिक महत्त्व

---

* धर्मकार्यमपि संभूय कार्यमित्युक्तं तेनैव
सभाप्रपादेवगृहतटाकारामसंस्कृतिः ॥
—वीरमित्रोदय में बृहस्पति, पृ० ४२५।

आराम के दोनों अर्थ होते थे। एक तो वह स्थान जहाँ लोग ठहरते और विश्राम करते थे; और दूसरा उपवन या उद्यान।

† स्ट्रैबो खंड १५. ५०. ४-१०. एरियन (१२) में दिए हुए राजकीय अधिकारियों के विपरीत अपना शासन आप करनेवाले नगरों के मजिस्ट्रेटों से इसकी तुलना करो।

की ओर ध्यान रखने की बात यह है कि उक्त वर्णन में 'नगर मजिस्ट्रेट' शब्द का व्यवहार किया गया है; और एक यूनानी के मुँह से इस शब्द के व्यवहार से यह सूचित होता है कि ये सार्वजनिक अधिकारी थे और राजा द्वारा नियुक्त नहीं होते थे। अर्थ-शास्त्र में जिस "नागरक" अधिकारी का उल्लेख है, वह राजा द्वारा नियुक्त नगर का शासक हुआ करता था; और इन अधिकारियों से भिन्न होता था। इन नगर-मजिस्ट्रेटों के साथ पाँच-पाँच सदस्यों के छः मंडल होते थे, जो नीचे लिखे कार्यों की व्यवस्था करते थे—

(क) नगर का शिल्प और कला आदि।

(ख) नगर में रहनेवाले विदेशी, जिनकी मृत्यु पर वे उनकी संपत्ति की व्यवस्था करते थे (उसे उनके संबंधियों के पास भेज देते थे)*।

---

* एक विद्वान् ने, जिन्हें हिंदू प्रामाणिक लेखकों का उतना अधिक ध्यान नहीं रहता, जितना साम्यों और तुलनाओं का रहता है, मौर्य राजधानी की इस पौर संस्था के संबंध में भूल से यह समझ लिया है कि यह फारस के राजकीय शासक-विभाग की नकल पर बनाया गया था।

(ग) नगर में होनेवाले जन्मों और मृत्युओं का लेखा रखते थे। और

(घ) नगर के व्यापार-व्यवसाय और बने हुए द्रव्यों की व्यवस्था करते थे और बिक्री की चीजों पर चुंगी वसूल करते थे।

"यही सब कार्य हैं जिनकी व्यवस्था ये सब मंडल अलग-अलग करते हैं। ये सब मंडल मिलकर या अपने सामूहिक रूप में अपने विशिष्ट विभागों की देख-रेख भी करते हैं और सर्वसाधारण के हित के विषयों का भी ध्यान रखते हैं; यथा सार्वजनिक भवनों की मरम्मत, पदार्थों के मूल्यों का नियंत्रण और बाजारों, बंदरगाहों और मंदिरों की रक्षा।"

§ २५७. स्ट्रैबो ने जिन नगर-मजिस्ट्रेटों का उल्लेख किया है, वे पौर-मुख्य या पौरवृद्ध हैं। पाँच सदस्यों के मंडल तथा तीस सदस्यों के पूर्ण मंडल से वही व्यवस्था सूचित होती है जो धर्म-परिषदों और बौद्ध संघ के तीन और पाँच, दस, बीस और इससे अधिक की गण-पूर्ति और पतंजलि

यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वशिष्ठ (१६. २०) के अनुसार ये पौर लोग राजमंत्रियों के साथ मिलकर संपत्ति आदि की व्यवस्था करते थे।

के पंचक, दशक तथा विंशक संघों में थी* । बृहस्पति ने सामूहिक संस्थाओं में पाँच सदस्यों की समितियों का भी उल्लेख किया है† । बौद्ध संघ में भी कुछ विषयों का निराकरण थोड़े ही सदस्यों की उपस्थिति में भी हो सकता था। परंतु अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों का विचार बीस या अधिक सदस्यों की उपस्थिति में ही हो सकता था‡ । पाटलिपुत्र के पौर का जो वर्णन मिलता है, उसमें हम देखते हैं कि सार्वजनिक हित की बातों का निर्णय अधिक सदस्यों की उपस्थिति में ही होता था। समस्त नगर-मजिस्ट्रेटों की सम्मिलित सभा रामायण में बतलाए हुए पौर के आभ्यंतर अंग से मिलती-जुलती है। आभ्यंतर सभा के तो तीस

---

* पाणिनि ५. १. ५८ और ५६ पर पतंजलि का भाष्य।

† द्वौ त्रयः पंच वा कार्याः समूहहितवादिनः ।
कर्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः ॥
—वीरमित्रोदय पृ० ४२७ ।

‡ महावग्ग ६. ४. १. पंच संघा। चतुवग्गो भिक्खुसंघो पंचवग्गो भिक्खुसंघो दसवग्गो भिक्खुसंघो वीसतिवग्गो भिक्खुसंघो अतिरेकवीसतिवग्गो भिक्खुसंघो। साथ ही देखो ६. ३. ५. आदि।

सदस्य होते थे और बाह्य या सार्वजनिक सभा के अवश्य ही यथेष्ट अधिक सदस्य होते होंगे।

§ २५८. जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, ग्राम को वर्गिन् या वर्गी कहा गया है। वर्ग का अर्थ है—सभा या गण-पूर्त्ति। पाणिनि ने भी इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार किया है (५. १. ६०. देखो इस पर काशिका—पंचको वर्गः, दशको वर्गः)। दूसरी सामूहिक सभाएँ भी वर्गिन् कही गई हैं; अर्थात् जिनका कार्य वर्ग या सभा की प्रणाली पर होता था। मित्र मिश्र (वीरमित्रोदय पृ० ११) द्वारा उद्धृत एक धर्मशास्त्र (भृगु) के वचन में पौर, ग्राम और गण को वर्गिन् कहा गया है। [मिलाओ नीलकंठ द्वारा उद्धृत कात्यायन का वचन—

वर्ग

लिंगिनः श्रेणिपूगाश्च वणिग्जातास्तथापरे।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तानब्रवीद्भृगुः ॥]

महाभाष्य ४. २. २. में वासुदेव और अक्रूर के वर्गों का उल्लेख है। गौतम के धर्मशास्त्र अध्याय ११ के बीसवें और इक्कीसवें सूत्रों में वर्ग का सामूहिक सभा के रूप में उल्लेख है। यथा—

देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।
कर्षक-वणिक्-पशुपाल-कुसीदि-कारवः स्वे स्वे वर्गे ॥

अर्थात् कृषकों, वणिकों, पशुपालकों, महाजनों और

कारीगरों के वर्गों या सभाओं में स्वयं उन्हीं के बनाए हुए नियम ही मान्य या प्रमाण हैं।

यहाँ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि गौतम के समय में कृषकों तक की अपनी सभाएँ हुआ करती थीं।

§ २५६. अर्थशास्त्र (पृ० ८६) के अनुसार पौर संस्था अपने सिक्के राजकीय टकसाल में ढलवाया करती थी। उसका यह कार्य या तो राष्ट्र-विधान की दृष्टि से इस विचार से होता होगा कि जिसमें राजकीय टकसाल में खराब सिक्के न ढल सकें और या केवल आर्थिक विचार से होता होगा। परंतु अधिक संभावना इसी बात की है कि यह कार्य केवल आर्थिक विचार से होता होगा*। पुर या राजनगर में नगर के व्यापारियों की भी एक सभा हुआ करती थी, जिसे नैगम कहते थे†। यह नाम विशेष रूप से नगर के

---

* बहुत हाल तक इस देश में यह प्रथा थी कि व्यापारी लोग सरकारी टकसाल से अपने सिक्के ढलवाया करते थे।

† नैगमाः पौरवणिजः। मित्र मिश्र, वीरमित्रोदय पृ० १२०. साथ ही नगराणि करवर्जितानि निगमवणिजां स्थानानि। शाम शास्त्री द्वारा उद्धृत प्रश्न-व्याकरण-सूत्र-व्याख्यान'। अर्थशास्त्र पृ० ४६, पाद-टिप्पणी। धर्म-

व्यापारिये के संघ के लिये ही व्यवहृत होता था। अब तक साधारणतः यही समझा जाता रहा है कि यह शब्द संघ में संघटित व्यापारियों के लिये प्रयुक्त होता था। परंतु ऐसा समझना भ्रमपूर्ण है। ऐसे व्यापारियों या उनके संघ के लिये श्रेणी और पूग इन दो शब्दों का व्यवहार होता था। परंतु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि इन दोनों में क्या अंतर था*। हाँ अब ऐसा जान पड़ता है कि राजनगर की यह नैगम संस्था ही वास्तव में पौर संस्था की जननी थी। पौर का विकास या तो नैगम से हुआ होगा और या उसके आस-पास की परिस्थिति से

शास्त्रकारों ने नैगम को सामूहिक संस्थाओं की सूची में रखा है। यथा—

पाषण्ड-नैगम-श्रेणि-पूग-व्रातगणादिषु। विवादरत्नाकर में उद्धृत नारद का वचन पृ० १८०।

श्रेणि-नैगमपाषण्डगणानामप्ययं विधिः। याज्ञवल्क्य, (उक्त ग्रंथ) पृ० १७६। यहाँ पाषण्ड से अभिप्राय बौद्धों और जैनों की धार्मिक संस्थाओं—गणों और संघों—से है।

* जो कारीगर दक्ष नहीं होते थे, वे व्रात्यों में रखे जाते थे। देखो पाणिनि ५. २. २१. पर पतंजलि का भाष्य।

हुआ होगा (§ २६१). । जातकों और पाली त्रिपिटिक में नैगम (नेगम) शब्द का व्यवहार पौर के लिये ही मिलता है* । आधुनिक अनुवादकों ने इसका अनुवाद "नगर" किया है; परंतु वास्तव में इसका अभिप्राय राजधानी से है। धर्मशास्त्रों के हिंदू टीकाकार नैगम और पौर को समानार्थी ही बतलाते हैं† । पाली ग्रंथों में "नैगम" शब्द उसी प्रकार जानपद के साथ आता है, जिस प्रकार संस्कृत ग्रंथों में जानपद के साथ पौर आता है। राजनगर के व्यापारियों के संघ और राजनगर की व्यवस्थापिका संस्था में इतना अधिक संबंध था कि दोनों को लोग एक ही समझने लगे थे। यही कारण है कि पौर में व्यापारियों और उनके हितों की प्रधानता रहती है‡ ।

---

* जातक खंड १. पृ० १४६—सब्बे नेगमजानपदे । कूटदन्त सुत्त, दीग्घ निकाय, पैरा १२. नेगमा च एव जानपदा च ते भवं राजा आमन्तयतं ।

† चंडेश्वर, विवादरत्नाकर पृ० १७७-१८०. नैगमाः पौराः, नैगमः पौरसमूहः ।

‡ मिलाओ "श्रेष्ठिन्" जो सदा धनवान् व्यापारी हुआ करता था। देखो नीचे पौर संस्था के संघटन का विवेचन ।

व्यापारियों के संघ के लिये ही व्यवहृत होता था। अब तक साधारणतः यही समझा जाता रहा है कि यह शब्द संघ में संघटित व्यापारियों के लिये प्रयुक्त होता था। परंतु ऐसा समझना भ्रमपूर्ण है। ऐसे व्यापारियों या उनके संघ के लिये श्रेणी और पूग इन दो शब्दों का व्यवहार होता था। परंतु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि इन दोनों में क्या अंतर था*। हाँ अब ऐसा जान पड़ता है कि राजनगर की यह नैगम संस्था ही वास्तव में पौर संस्था की जननी थी। पौर का विकास या तो नैगम से हुआ होगा और या उसके आस-पास की परिस्थिति से

शास्त्रकारों ने नैगम को सामूहिक संस्थाओं की सूची में रखा है। यथा—

पाषण्ड-नैगम-श्रेणि-पूग-व्रातगणादिषु। विवादरत्नाकर में उद्धृत नारद का वचन पृ० १८०।

श्रेणि-नैगमपाषण्डगणानामप्ययं विधिः। याज्ञवल्क्य, (उक्त ग्रंथ) पृ० १७६। यहाँ पाषण्ड से अभिप्राय बौद्धों और जैनों की धार्मिक संस्थाओं—गणों और संघों—से है।

* जो कारीगर दक्ष नहीं होते थे, वे व्रात्यों में रखे जाते थे। देखो पाणिनि ५. २. २१. पर पतंजलि का भाष्य।

हुआ होगा (§ २६१)। जातकों और पाली त्रिपिटिक में नैगम (नेगम) शब्द का व्यवहार पौर के लिये ही मिलता है*। आधुनिक अनुवादकों ने इसका अनुवाद "नगर" किया है; परंतु वास्तव में इसका अभिप्राय राजधानी से है। धर्मशास्त्रों के हिंदू टीकाकार नैगम और पौर को समानार्थी ही बतलाते हैं†। पाली ग्रंथों में "नैगम" शब्द उसी प्रकार जानपद के साथ आता है, जिस प्रकार संस्कृत ग्रंथों में जानपद के साथ पौर आता है। राजनगर के व्यापारियों के संघ और राजनगर की व्यवस्थापिका संस्था में इतना अधिक संबंध था कि दोनों को लोग एक ही समझने लगे थे। यही कारण है कि पौर में व्यापारियों और उनके हितों की प्रधानता रहती है‡।

---

* जातक खंड १. पृ० १४९—सब्बे नेगमजानपदे। कूटदन्त सुत्त, दीघ निकाय, पैरा १२. नेगमा च एव जानपदा च ते भवं राजा आमन्तयतं।

† चंडेश्वर, विवादरत्नाकर पृ० १७७-१८०. नैगमाः पौराः, नैगमः पौरसमूहः।

‡ मिलाओ "श्रेष्ठिन्" जो सदा धनवान् व्यापारी हुआ करता था। देखो नीचे पौर संस्था के संघटन का विवेचन।

रामायण में नैगम का उल्लेख सदा पौर के साथ मिलता है, पर उनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि दोनों अलग होने पर भी परस्पर संबद्ध जान पड़ते हैं*। नैगम का अपना निजी अधिवेशन-भवन और कार्यालय होता था, जिसे "सभा" कहते थे, जहाँ उसके अधिवेशन होते थे; और पौर-जानपदों की अपनी सभाएँ और चत्वर हुआ करते थे, जिनमें उनके अधिवेशन होते थे†। एक स्थान पर हमें यह उल्लेख मिलता है कि एक धनवान् और उदार व्यापारी ने नैगम सभा के अधिवेशन में यह लिखवाया था कि गोवर्धन नगर के कुछ श्रेणियों के पास मेरा जो धन है, वह अमुक अमुक दान-कार्यों में लगाया जाय। इस वाक्य का अनुवाद मि० सेनर्ट ने इस प्रकार किया है—"यह सब निगम सभा के कार्यालय में नियम के अनुसार लिखा दिया गया

---

* रामायण, युद्ध कांड, १२७. १६।

† गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पांडुसुतांस्तदा।

... ...

कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ॥

—वीरमित्रोदय पृ० ४० में मित्र मिश्र द्वारा उद्धृत महाभारत का वचन।

है और इसकी रजिस्टरी करा दी गई है* ।" इस प्रकार जान पड़ता है कि नगर की श्रेणियों के साथ नैगम का संबंध था और नैगम कदाचित् श्रेणियों से ऊपर होता था।

§ २६०. इस प्रकार पौर का व्यापारिक स्वरूप बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है; और सरकारी टकसाल में पौर जो अपने सिक्के ढलवाता था, उसका हेतु हम केवल आर्थिक

---

* नासिक गुहा-शिलालेख। Epigraphia Indica ८. ८२. मूल इस प्रकार हैं—गोवर्धन-वाथवासु श्रेणिसु कोलीकनिकाये २००० वृधि पडिकशत...एत च सर्व स्रावित निगमसभाय निबध च फलकवारे चरित्रोति। 'चरित्र' पुस्तकों में लिखा जाता था। देखो अर्थशास्त्र २. २५. पृ० ६२. यहाँ चरितो का अर्थ हो सकता है—जिस प्रकार चरित्र लिखा जाता था। धर्म-शास्त्रों के अनुसार "श्रावित" का अर्थ होगा—जिसे सुन कर मान्य और हस्ताक्षरित किया गया हो। सब प्रकार के लेन-देन निगम-सभा में "श्रावित" होते थे, अर्थात् वहाँ उनकी रजिस्टरी होती थी। हिंदुओं में रजिस्टरी की यही प्रथा थी कि लिखा हुआ कागज पहले सुन लिया जाता था और तब उस पर हस्ताक्षर तथा गवाही होती थी।

ही मान सकते हैं। नैगम सिक्कों से साधारणतः यही अभिप्राय समझा जाता है कि ये श्रेणियों द्वारा ढलवाए हुए होते थे। परंतु मैं समझता हूँ कि इनसे उन सिक्कों का अभिप्राय लेना चाहिए जो राजधानी में राज्य की ओर से पौर अथवा नगर के व्यापारियों की सभा के लिये ढाले जाते थे*। जिन सिक्कों पर मुख्य मुख्य नगरों के नाम अंकित होते थे, जैसे उजेनियां†, वे पौर सिक्के समझे जा सकते हैं‡।

नैगम सिक्के

§ २६१. पाणिनि ३. ३. ११६. के अनुसार निगम शब्द का, जिससे नैगम शब्द निकला है, शब्दार्थ होता

---

* मिलाओ अर्थशास्त्र पृ० ८९. सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णमावेशनिभिः कारयेत्।

† कनिंघम कृत A. S. R. खंड १४. पृ० १४८।

‡ जिस "दोजक" सिक्के पर नेगम शब्द अंकित मिलता है (कनिंघम कृत Coins of Ancient India पृ० ६४. फलक ३.) उससे यह सूचित हो सकता है कि राजधानी का नाम दोजक था। साथ ही देखो "एरन" सिक्का (A. S. R. खंड १४. पृ० १४८. C. A. I पृ० ९९—१०२.)

है—वह स्थान या गृह जिसमें लोग जाते हैं। वह राज-धानी का ऐसा स्थान रहा होगा जहाँ व्यापारी और व्यवसायी लोग जाकर आपस में एक दूसरे से मिलते-जुलते होंगे। उसी निगम से संबद्ध लोगों की संस्था नैगम कहलाती थी।

——

अट्ठाइसवाँ प्रकरण

जानपद और पौर के राजनीतिक कार्य

§ २६२. ऐसा जान पड़ता है कि जानपद का संबंध मुख्यतः राष्ट्र-संघटन और राजनीति के मामलों से था।

जानपद और सिक्कों की ढलाई

केवल एक दो बातों को छोड़कर, जैसे वे राजकीय टकसाल के अधिकारी से सोने के सिक्के ढलवाया करते थे*, उनके संबंध में और जितने कामों का उल्लेख हुआ है, वे सब प्रायः इसी प्रकार के हैं। उनका यह एक काम आर्थिक स्वरूप या ढंग का जान पड़ता है। मालुम होता है कि जानपद को इस बात का निर्णय करना पड़ता था कि देश में लेन-देन का काम चलाने के लिये कितने सिक्कों की आवश्यकता है; और कदाचित् उन्हें सिक्कों की तौल और शुद्धता के संबंध में भी कुछ देख-रेख रखनी पड़ती थी; क्योंकि एक दो स्थानों में इस बात का भी उल्लेख मिलता

---

* अर्थशास्त्र २. १४. ३२.

है कि प्रजा को इस बात की शिकायत करनी पड़ी थी कि सरकार ने सिक्कों में कुछ खोट मिलाया है।

§ २६३. राष्ट्र-संघटन संबंधी सभी बातों में जानपद के साथ सदा पौर का भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पौर के हाथ में दोहरे काम थे। एक तो उसे राजधानी के स्थानिक स्वराज्य की व्यवस्था करनी पड़ती थी; और दूसरे वह राष्ट्र-संघटन संबंधी विषयों की व्यवस्था करनेवाली संस्था या सभा थी। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, ऐसी संस्थाएँ अपना यह अंतिम कार्य विशेषतः प्रांतीय राजधानियों में स्वयं ही करती थीं। अधिक महत्त्व के विषयों का विचार और निर्णय जानपद और पौर दोनों संस्थाओं के सम्मिलित अधिवेशन में हुआ करता था। उस समय वे दोनों संस्थाएँ मिलकर इस प्रकार बिलकुल एक हो जाती थीं कि दोनों एक ही समझी जाती थीं और उनका उल्लेख एक-वचन में होता था। यह एकता इस कारण होती थी कि जानपद के अधिवेशन का स्थान और कार्यालय स्वयं राजधानी में ही होता था*।

पौर और जानपद के राष्ट्र-संघटन संबंधी कार्य

---

* देखो आगे § २८० में मृच्छकटिक में आए हुए उल्लेख का विवेचन तथा दूसरे ऐसे उल्लेख

§ २६४. इन संस्थाओं को जिस प्रकार के कार्य संपन्न करने पड़ते थे, उनके कुछ उदाहरण लीजिए। युवराज की नियुक्ति के संबंध में निर्णय करने के लिये पौर और जानपद दोनों आकर ब्राह्मणों तथा नेताओं या जनमुख्यों के साथ मिलते हैं*। आपस में विचार और परामर्श करने के उपरांत वे राजा से निवेदन करते हैं कि आप उन राजकुमार का राज्याभिषेक करें, जिन्हें हम लोग चाहते हैं†।

जिनसे यह सूचित होता है कि उनका स्थान राजधानी में ही होता था।

* रामायण अयोध्या कांड २. १६–२२।

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह।
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतांगतबुद्धयः॥
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्।
... ...
सरामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिव॥
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।

† उक्त ग्रंथ और कांड; श्लोक २६–५१।

ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते॥
... ...

राजा कुछ चकित होते हैं और पूछते हैं—"आप लोग

इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते ।
...................बभूव भरताग्रजः ।।

... ...

यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ।
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्त्तते ।।
पौरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।

... ...

उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ।
प्रजापालनतत्त्वज्ञो न रागोपहतेन्द्रियः ।
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा ।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ।।
(कुंभकोणम् संस्करण)

संस्था के सामूहिक अर्थ में "जन" शब्द का व्यवहार देखने के लिये मिलाओ अशोक का 'जनं धम्मयुतं' (स्तंभ लेख-माला ७.) ।

आधुनिक रामायण का रचना-काल जानने के लिये रामायण के संबंध में जैकोबी का विवेचनात्मक निबंध (दास-रामायण) देखना चाहिए । जान पड़ता है कि मूल ग्रंथ

राजकुमार राघव को युवराज और रक्षक बनाना चाहते हैं। परंतु मेरे मन में एक संदेह उत्पन्न हुआ है जिसकी आप लोग कृपा कर निवृत्ति करें। हे शासको या राजाओ (राजानः), यद्यपि मैं धर्म के अनुसार इस देश का शासन करता हूँ, फिर भी क्या कारण है कि आप सब महानुभाव मेरे पुत्र का यौवराज्याभिषेक कराना और उसे उच्च अधिकारों से युक्त कराना चाहते हैं?" पौर-जानपद के सदस्यों के साथ और प्रतिनिधि लोग अपने कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समस्त इक्ष्वाकुओं में योग्यता के विचार से राम सर्वश्रेष्ठ हैं; उनका जन्म भरत से पहले हुआ है; वे वीर हैं; और वे सदा पौरों का कुशल-मंगल पूछा करते हैं। समस्त उत्सवों और पर्वों आदि में वे प्रधान रूप से सम्मिलित होते हैं; वे शासन आदि के सिद्धांतों से भली-भाँति परिचित हैं; देश उन्हें अपना स्वामी बनाने का इच्छुक है; और केवल राज्य या राजधानी के लोग ही नहीं, बल्कि पौर-जानपद भी—उनके आभ्यंतर और बाह्य दोनों अंग—उनकी प्रशंसा करते हैं। वे लोग जिन कारणों से ज्येष्ठ

की रचना ई० पू० ५०० के लगभग हुई थी; और ई० पू० २०० के लगभग वह फिर से दोहराई गई थी। (J. B. O R. S. ४. २६२.)

राजकुमार को युवराज बनाना चाहते हैं, उनसे राजा का संतोष हो जाता है। जब राजा इस बात का वचन देते हैं कि आप लोगों की कामना पूर्ण की जायगी, तब सब लोग उस उत्तर से अपनी प्रसन्नता सूचित करने के लिये घोष करते हैं*। इसके उपरांत राजा का भाषण होता है जिसमें वे यह बतलाते हैं कि यह निश्चय किस प्रकार कार्य रूप में परिणत होना चाहिए। इसके उपरांत राजा को यह परामर्श देनेवाले पौर लोग बहुत अधिक संतुष्ट होकर वहाँ से चले जाते हैं†। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित

---

* उक्त ग्रंथ और कांड, अध्याय ३. श्लोक २–५।

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराजस्थमिच्छथ॥

... ...

यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्।
राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत॥
शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषे नराधिपः॥

† उक्त ग्रंथ, कांड, और अध्याय, श्लोक ४६।

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान्समानर्चुरभिप्रहृष्टाः॥

उक्त ४. १।

राजकुमार राघव को युवराज और रक्षक बनाना चाहते हैं। परंतु मेरे मन में एक संदेह उत्पन्न हुआ है जिसकी आप लोग कृपा कर निवृत्ति करें। हे शासको या राजाओं (राजानः), यद्यपि मैं धर्म के अनुसार इस देश का शासन करता हूँ, फिर भी क्या कारण है कि आप सब महानुभाव मेरे पुत्र का यौवराज्याभिषेक कराना और उसे उच्च अधिकारों से युक्त कराना चाहते हैं?" पौर-जानपद के सदस्यों के साथ और प्रतिनिधि लोग अपने कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समस्त इक्ष्वाकुओं में योग्यता के विचार से राम सर्वश्रेष्ठ हैं; उनका जन्म भरत से पहले हुआ है; वे वीर हैं; और वे सदा पौरों का कुशल-मंगल पूछा करते हैं। समस्त उत्सवों और पर्वों आदि में वे प्रधान रूप से सम्मिलित होते हैं; वे शासन आदि के सिद्धांतों से भली-भाँति परिचित हैं; देश उन्हें अपना स्वामी बनाने का इच्छुक है; और केवल राज्य या राजधानी के लोग ही नहीं, बल्कि पौर-जानपद भी—उनके आभ्यंतर और बाह्य दोनों अंग—उनकी प्रशंसा करते हैं। वे लोग जिन कारणों से ज्येष्ठ

की रचना ई० पू० ५०० के लगभग हुई थी; और ई० पू० २०० के लगभग वह फिर से दोहराई गई थी। (J. B. O. R. S. ४. २६२.)

राजकुमार को युवराज बनाना चाहते हैं, उनसे राजा का संतोष हो जाता है। जब राजा इस बात का वचन देते हैं कि आप लोगों की कामना पूर्ण की जायगी, तब सब लोग उस उत्तर से अपनी प्रसन्नता सूचित करने के लिये घोष करते हैं*। इसके उपरांत राजा का भाषण होता है जिसमें वे यह बतलाते हैं कि यह निश्चय किस प्रकार कार्य रूप में परिणत होना चाहिए। इसके उपरांत राजा को यह परामर्श देनेवाले पौर लोग बहुत अधिक संतुष्ट होकर वहाँ से चले जाते हैं†। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित

---

* उक्त ग्रंथ और कांड, अध्याय ३. श्लोक २—५।

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराजस्थमिच्छथ॥

... ...

यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्।
राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत॥
शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषे नराधिपः॥

† उक्त ग्रंथ, कांड, और अध्याय, श्लोक ४६।

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान्समानर्चुरभिप्रहृष्टाः॥

उक्त ४. १।

हो जाती है कि पौर शब्द पौरों और जानपदों दोनों का सूचक और बोधक है।

§ २६५. यही पौर-जानपद फिर एक समूह में अभिषेक के कृत्य में सम्मिलित होने के लिये आते हैं*। यद्यपि समस्त संस्था की उपस्थिति मान ली गई थी, तथापि वास्तव में व्यक्तिशः विभागों या अंगों के प्रधान या मुख्य ही उपस्थित थे†। जैसा कि धर्मपाल के ताम्रलेख में उल्लिखित है‡, समस्त पांचाल देश के केवल वृद्ध लोग ही कान्यकुब्ज में राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित हुए थे। राज्याभिषेक के

अभिषेक में जनता के प्रतिनिधि-स्वरूप उनकी उपस्थिति; वे उत्तराधिकार में बाधक हो सकते हैं।

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्॥

* उक्त ग्रंथ और कांड, अध्याय १४. श्लोक ५२।

उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः॥

† उक्त; श्लोक ४०।

पौरजानपदश्रेष्ठाः नैगमाश्च गणैः सह।

‡ Epigraphia Indica. खंड ४. पृ० २४८।

सब कृत्य समाप्त हो जाने पर राजा केवल श्रेणियों के मुख्यों की पत्नियों को ही अभिवादन करता है* ।

अन्यान्य राजकीय कृत्यों में भी पौर के बड़े और प्रतिष्ठित लोग या पौर-वृद्ध ही सम्मिलित होते थे† ।

साथ ही पौर-जानपद उत्तराधिकार में बाधक हो सकते थे; और जो राजकुमार उन्हें अभिप्रेत न होता था, उसका राज्यारोहण वे लोग रोक सकते थे‡ ।

§ २६६. मृच्छकटिक नाटक में जो राज्यक्रांति दिखाई गई है, उससे पौर-जानपद के राष्ट्र-संघटन संबंधी अधिकारों के एक और अंग पर भी प्रकाश पड़ता है। राजा के कुशासन के कारण श्रेष्ठियों के सघ के प्रधान या मुख्य पर अत्याचार होता है; और इसलिये राजा राज्यच्युत कर दिया जाता है + । राज्यच्युत राजा का भाई पौरों को विश्वास

---

* वीरमित्रोदय रत्नाकर ११४ ।

† वीरमित्रोदय पृ० ४१७. देवयात्रा में—ततोर्चास्नपनस्यांते पौरैर्वृद्धपुरःसरैः ।

‡ महाभारत, उद्योगपर्व, १४६; २२—२३ ।

+ देखो "चारुदत्त का अभियोग" का C. W. N. १६. पृ० २. में अनुवाद ।

संपादित करता है* और राजसिंहासन पर बैठाया जाता है। जानपद समवाय के पास दूत राज्यक्रांति का समाचार लेकर आता है,† जिन्हें कुछ ही समय के उपरांत वह पौर कहकर सम्बोधित करता है और उनसे संस्थानक को दंड देने के लिये कहता है। सिंहल के महावंश के अनुसार भारत में पौर को इस बात का अधिकार प्राप्त था कि यदि राजा कोई धर्मविरुद्ध कार्य करे, तो वह उसे राज्यच्युत करके निर्वासित कर दें; और सब लोगों के कल्याण का ध्यान रखनेवाले वे पौर अपनी सभा में निश्चय करके राजवंश से भिन्न किसी और वंश के व्यक्ति को चुनकर राजा बनावें‡। यहाँ भी यही जान पड़ता है कि पौर शब्द पौरों और जानपदों दोनों

सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य तनयः। अंक ९. (छाया)

* पौरान् समाश्वास्य।

† मृच्छकटिक अं० १०. साथ ही देखो—पौराः वावादेध। किं णिमित्तं पादकी जीवावीअदि। इससे प्रकट होता है कि जिस स्थान पर चारुदत्त और वसंतसेना खड़ी थी, और जहाँ जानपद समवाय था, वहाँ पौर लोग भी उपस्थित थे।

‡ महावंश ४. ५-६।

के लिये आया है। दशकुमारचरित* में कहा गया है कि पौरों और जानपदों का राजा के भाइयों के साथ मैत्री-भाव है; और इसी लिये वक्ता को इस बात का भय था कि यदि राजा का देहांत हो जायगा, तो उसके भाई अवश्य ही उसके स्थान पर सिंहासनारूढ़ होंगे।

पौरों और जानपदों में राजनीतिक वाद-विवाद

§ २६७. पौरों और जानपदों की सभाओं में जिस प्रकार के वाद-विवाद आदि हुआ करते थे, उनका एक उदाहरण अर्थशास्त्र में दिया गया है। उसमें कहा है कि जो गुप्तचर या गूढ़ पुरुष राजा के संबंध में पौरों और जानपदों के विचार जानने के लिये नियुक्त हों, वे (१) पौरों की तीर्थ-सभाशाला समवाय या उपसमिति में जायँ, जिसके तत्त्वावधान में तीर्थ स्थान तथा सार्वजनिक भवन आदि रहते हैं; (२) पूगसमवाय में जायँ जिसके तत्त्वावधान में व्यापार और वस्तुओं का निर्माण करने के सब कार्य रहते हैं; और (३) जन-समवाय या सार्वजनिक सभा में जायँ अर्थात् उस सभा में जायँ जिसे मृच्छकटिक में जानपद-समवाय कहा गया है। इन उप-समितियों या स्थायी सभाओं में जाकर गुप्तचर

---

* दशकुमारचरित, ३।
अनुजाः पुनः अतिबहवः तैरपि घटन्ते पौरजानपदाः।

संपादित करता है* और राजसिंहासन पर बैठाया जाता है। जानपद समवाय के पास दूत राज्यक्रांति का समाचार लेकर आता है,† जिन्हें कुछ ही समय के उपरांत वह पौर कहकर सम्बोधित करता है और उनसे संस्थानक को दंड देने के लिये कहता है। सिंहल के महावंश के अनुसार भारत में पौर को इस बात का अधिकार प्राप्त था कि यदि राजा कोई धर्मविरुद्ध कार्य करे, तो वह उसे राज्यच्युत करके निर्वासित कर दें; और सब लोगों के कल्याण का ध्यान रखनेवाले वे पौर अपनी सभा में निश्चय करके राजवंश से भिन्न किसी और वंश के व्यक्ति को चुनकर राजा बनावें‡। यहाँ भी यही जान पड़ता है कि पौर शब्द पौरों और जानपदों दोनों

सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य तनयः। अंक ६. (छाया)

* पौरान् समाश्वास्य।

† मृच्छकटिक अं० १०. साथ ही देखो—पौराः वावादेध। किं णिमित्तं पादकी जीवावीअदि। इससे प्रकट होता है कि जिस स्थान पर चारुदत्त और वसंतसेना खड़ी थी, और जहाँ जानपद समवाय था, वहाँ पौर लोग भी उपस्थित थे।

‡ महावंश ४. ५-६।

के लिये आया है। दशकुमारचरित* में कहा गया है कि पौरों और जानपदों का राजा के भाइयों के साथ मैत्री-भाव है; और इसी लिये वक्ता को इस बात का भय था कि यदि राजा का देहांत हो जायगा, तो उसके भाई अवश्य ही उसके स्थान पर सिंहासनारूढ़ होंगे।

पौरों और जानपदों में राजनीतिक वाद-विवाद

§ २६७. पौरों और जानपदों की सभाओं में जिस प्रकार के वाद-विवाद आदि हुआ करते थे, उनका एक उदाहरण अर्थशास्त्र में दिया गया है। उसमें कहा है कि जो गुप्तचर या गूढ़ पुरुष राजा के संबंध में पौरों और जानपदों के विचार जानने के लिये नियुक्त हों, वे (१) पौरों की तीर्थ-सभाशाला समवाय या उपसमिति में जायँ, जिसके तत्त्वावधान में तीर्थ स्थान तथा सार्वजनिक भवन आदि रहते हैं; (२) पूगसमवाय में जायँ जिसके तत्त्वावधान में व्यापार और वस्तुओं का निर्माण करने के सब कार्य रहते हैं; और (३) जन-समवाय या सार्वजनिक सभा में जायँ अर्थात् उस सभा में जायँ जिसे मृच्छकटिक में जानपद-समवाय कहा गया है। इन उप-समितियों या स्थायी सभाओं में जाकर गुप्तचर

---

* दशकुमारचरित, ३।
अनुजाः पुनः अतिबहवः तैरपि घटन्ते पौरजानपदाः।

लोग इस बात का पता लगावें कि पौरों और जानपदों के आंतरिक भाव क्या हैं। उदाहरणार्थ वे गुप्तचर अपने विषय की चर्चा इस प्रकार आरम्भ करें—

"हम लोग सुनते हैं कि राजा में सभी आवश्यक गुण वर्तमान हैं। परंतु हम लोग उनमें वे गुण नहीं पाते, क्योंकि राजा सेना और कर के लिये (धन माँगकर) पौरों और जानपदों को पीड़ित करता है* ।"

यदि इस वाद-विवाद में सभासद लोग राजा का पक्ष लेते और उसकी प्रशंसा करते थे, तो गुप्तचर या गूढ़ पुरुष राजा और प्रजा के मध्य के पुराने इकरार और उसके संबंध के हिंदू सिद्धांत का स्मरण दिलाते थे, जिससे राजत्व प्रथा का आरंभ हुआ था और जो राजत्व का मूल आधार था। वे कहते थे—

---

* अर्थशास्त्र १. १३. ६।

गूढ़पुरुषप्रणिधिःकृतमहामात्यापसर्पः पौरजानपदानपसर्पयेत् सत्रिणो द्वन्द्विनस्तीर्थसभाशालापूगजनसमवायेषु विवादं कुर्युः। सर्वगुणसम्पन्नश्चायं राजा श्रूयते। न चास्य कश्चित् गुणो दृश्यते यः पौरजानपदान् दण्डकराभ्यां पीडयतीति।

दंडकराभ्यां के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये अर्थशास्त्र १३. ५. १७६ (पृ० ४०७) का दंड शब्द मिलाओ।

"(क्या यह बात नहीं है कि) जिस समय अराजकता फैली और उससे प्रजा पीड़ित हुई, उस समय प्रजा विवस्वत के पुत्र मनु के पास गई थी? वहाँ उन लोगों ने कर के रूप में राजा का अंश निश्चित कर दिया था कि राजा फसल का छठा अंश ले और व्यापार-व्यवसाय की चीजों के मूल्य का नगद दसवाँ हिस्सा ले। प्रजा के योगक्षेम के लिये राजाओं का इतना ही अंश निश्चित है*।"

§ २६८. महाभारत में कहा है कि राजा उसी मंत्री को मंत्र या राज्य की नीति और शासन या दंड का अधिकार प्रदान करे, अर्थात् उसी व्यक्ति को प्रधान मंत्री बनावे, जिसने धर्म के अनुसार पौर-जानपद का विश्वास संपादित

---

* तत्र येऽनुप्रशंसेयुः तानितरस्त्वं च प्रतिषेधयेत्। मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः तेषां किल्बिषमदण्डकरा हरन्ति।

अर्थ शास्त्र (पृ० २३)

'भृत' शब्द के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर) में का इस शब्द का अर्थ मिलाओ।

किया हो* । जब राजा अपने मंत्रियों की सभा में राज्य की नीति या मंत्र के संबंध में वाद-विवाद करके निश्चय कर लिया करता था, तब वे निश्चय राष्ट्र अर्थात् जानपद के समक्ष उनकी सम्मति के लिये (यहाँ दर्शयेत् शब्द है, जिसका शब्दार्थ है—दिखलाने के लिये) उपस्थित किए जाते थे; और यह काम राष्ट्र या जानपद के प्रधान के द्वारा, जिसे राष्ट्रीय कहते थे, किया जाता था† । यह बात विशेषतः इसलिये आवश्यक होती थी कि असाधारण करों आदि की स्वीकृति, जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, उन्हीं लोगों के हाथ में होती थी।

प्रधान मंत्री की नियुक्ति और पौर-जानपद

§ २६६. मंत्रियों की अवस्थिति एक बहुत बड़ी सीमा तक पौर-जानपद की प्रसन्नता और विश्वास पर ही निर्भर

---

* महाभारत (कुम्भकोणम्वाला संस्करण) शांति पर्व ८३. ४५–४६ ।

तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ।
पौरजानपदा यस्मिन्विश्वासं धर्मतो गताः ॥

† उक्त ग्रन्थ और पर्व, ८५. ११–१२ ।

अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ।
ततः संप्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत् ॥

करती थी। मंत्री चक्रपालित, जो पश्चिमी प्रांत में स्कंदगुप्त का प्रांतीय प्रधान शासक था, एक सार्वजनिक लेख में इस बात का उल्लेख करता है कि मैंने थोड़े ही समय तक शासन करके प्रजा तथा नागरों का विश्वास सम्पादित किया है और मैंने पौर-वर्गों या पौरों की सभा को सब प्रकार से प्रसन्न किया है*। अंत में वह इस बात की प्रार्थना करता है कि नगर की वृद्धि हो और वह पौर के प्रति निष्ठ हो†।

§ २७०. बड़े बड़े साम्राज्यों में प्रांतीय राजधानियाँ हुआ करती थीं। जान पड़ता है कि इस प्रकार की प्रत्येक राजधानी में एक स्वतंत्र पौर-संस्था हुआ करती थी। ऐसी अवस्थाओं में केवल पौर का ही उल्लेख पाया

---

* विश्रम्भमल्पेन शशाम योऽस्मिन्कालेन लोकेषु स नागरेषु। यो लालयामास च पौरवर्गान्...॥

ईसवी सन् ४५७-५८ का जूनागढ़वाला शिलालेख। फ्लीट कृत C. I. I. (G. I.) खंड ३. पृ० ७। फ्लीट के पाठ में "अल्पे" और "काले" से जो "न" पृथक किया गया है, वह व्याकरण की दृष्टि से असम्भव है।

† फ्लीट कृत उक्त ग्रंथ, पृ० ६१।

नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौरजुष्टम्।

जाता है। वहाँ कोई अलग जानपद संस्था नहीं होती थी; और ऐसा जान पड़ता है कि प्रधान राजधानी में ही जानपद-संस्था होती थी जो समस्त देश का प्रतिनिधित्व करती थी। यदि मंत्री का कोई व्यवहार अनुचित होता था, तो पौर उस पर तुरंत बिगड़ जाते थे।

पौर और प्रांतीय सरकार

अशोक के समय में उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला थी; और इस बात का उल्लेख मिलता है कि केवल तक्षशिला के पौर विरुद्ध हो गए थे या बिगड़ खड़े हुए थे। पिता सम्राट अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को उन्हें शांत करने के लिये भेजा था। राजकुमार का स्वागत और अभिनंदन करते समय पौरों ने आकर उससे कहा था—"हम लोग श्रीमान् सम्राट् के प्रतिनिधि के विरुद्ध नहीं हुए हैं और न महाराज अशोक के ही विरुद्ध हुए हैं, बल्कि हम लोग दुष्ट मंत्रियों के विरुद्ध हुए हैं, जो यहाँ आए हैं और जो हम लोगों के प्रति उद्दंड हैं (हम लोगों का अपमान करते हैं*)।

---

* दिव्यावदान पृ० ४०७-०८।

राज्ञोऽशोकस्योत्तरापथे तक्षशिलानगरं विरुद्धम्। श्रुत्वा च राजा स्वयमेवाभिप्रस्थितः। ततोऽमात्यैरभिहितः। देव कुमारः प्रेष्यतां स संनामयिष्यति। अथ

अशोक के शिलालेखों से हमें इस बात का पता चलता है कि उसने यह आज्ञा दे रखी थी कि तक्षशिला में मंत्री-गण प्रति तीसरे वर्ष अपना पद छोड़ दिया करें; और उनके स्थान पर नए मंत्री भेजे जाया करें*। दूसरी प्रांतीय राजधानियों के मंत्री लोग प्रति पाँचवें वर्ष बदले जाया

तक्षशिला के पौर का आंदोलन

राजा कुनालमाहूय कथयति—वत्स कुनाल गमिष्यसि तक्षशिलानगरं संनामयितुम्। कुनाल उवाच—परं देव गमिष्यामि.........अनुपूर्वेण तक्षशिलामनुप्राप्तः। श्रुत्वा च तक्षशिलापौरा अर्धत्रिकानि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गताः। वक्ष्यति च—

श्रुत्वा तक्षशिलापौरा रत्नपूर्णघटादिकान्।
गृह्य प्रत्युजगामाशु बहुमान्या नृपात्मजम्॥

प्रत्युद्गम्य कृताञ्जलिरुवाच। न वयं कुमारस्य विरुद्धा न राज्ञोऽशोकस्यापि तु दुष्टात्मानोऽमात्या आगत्यास्माकमपमानं कुर्वन्ति। यावत्कुनालो महता सन्मानेन तक्षशिलां प्रवेशितः।

* नगलजनस अकस्मा पलिबोधे व अकस्मा पलिकिलेसे व नो सिया ति एताये च अठाये हकं धंमते पंचसु पंचसु वसेसु निखामयिसामि ए अखखसे अचंड... सखिनालम्भे

करते थे। परंतु तक्षशिला और उज्जयिनी के संबंध में इस नियम का अपवाद हुआ करता था। कलिंग के जिन शिलालेखों को शिलालेख-विद् लोग "विशिष्ट आज्ञाएँ" कहते हैं, उनमें यह कहा गया है कि महाराज अशोक ने मंत्रियों के परिवर्तन के नियम पर इसलिये जोर दिया था कि जिसमें "नगरजन" अर्थात् पौर-संस्था सहसा उत्तेजित न हो जाय और संकट में न पड़ जाय। (नगलजनस अकस्मा पलिबोधे व अकस्मा पलिकिलेसे व नोसियाति)। स्पष्ट ही है कि यह उल्लेख पौरों के उस प्रकार सहसा उत्तेजित होने के संबंध में है, जैसा कि दिव्यावदान में वर्णित तक्षशिला का आंदोलन है।

होसति एतं अठं जानितु तथा कलंति अथ मम अनुसथी ति उजेनिते पि चु कुमाले एतायेव अठाये निखामयिस... हेदिसं मेव वगं नो च अतिकामयिसति तिंनि वसानि हेमेव तखसिलाते पि अदा अ...ते महामाता निखमिसति ...इत्यादि इत्यादि।

—धौली संस्करण, पंक्तियाँ ०—२५. मैंने J. B. O. R. S. के खंड ५ (१९१८) पृ० ३६ में इस शिलालेख के महत्त्व का विवेचन किया है।

अभाग्यवश हमें ऐसे राष्ट्र-संघटन संबंधी अपमानों के ब्योरे नहीं मिलते, जिनके कारण पौर लोग विरोधी या शत्रु हो गए थे और जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि उनका अराज-भक्त होना ठीक और न्यायसंगत था। जो हो, पर पौर इतने प्रखर राजनीतिज्ञ थे कि वे राजा के प्रति राजभक्ति और मंत्रियों के प्रति अराज-भक्ति का अंतर समझ सकते थे।

§ २७० (क) कर या राजस्व के संबंध में पौर-जानपद का प्रायः उल्लेख मिलता है। कर साधारण नियम या कानून के अनुसार निश्चित होते थे।

कर

परंतु प्रायः ऐसी आवश्यकताएँ पड़ती थीं और अवसर आते थे जिनमें राजा को प्रजा से विशिष्ट कर देने के लिये कहना पड़ता था। ये कर या तो प्रणय और प्रेमोपहार के रूप में होते थे या जबरदस्ती वसूल किए जाते थे और या इसी प्रकार के और किसी रूप में हुआ करते थे*। यह प्रकट होता है कि इस प्रकार के करों का प्रस्ताव सब से पहले पौर-जानपद के सामने उपस्थित किया जाता था। अर्थ-शास्त्र के अनुसार राजा को पौर-जानपद

---

* इंडियन एन्टीक्वेरी १९१८ पृ० ६० में जायसवाल का लेख।

से ऐसे करों की भिक्षा माँगनी पड़ती थी* । अभी ऊपर हम बतला चुके हैं कि जब राजा बहुत अधिक कर लगाता था, तब पौर और जानपद की उपसमितियों में उससे होनेवाले कष्टों का विवेचन होता था और उस पर वाद-विवाद हुआ करता था। कौटिल्य ने कहा है कि एक परास्त और अधीनस्थ देश के शासक ने पौर-जानपद को अपने ऊपर कुपित कर लिया था और पौर-जानपद ने अपने राजा के लिये धन और सेना एकत्र करके उस विद्रोही राजा का पराभव किया था† ।

यदि कोई प्रांतीय शासक या शून्यपाल युद्ध के लिये कर उगाहने की धमकी देता था, तो उसके परिणाम-स्वरूप जनता में असंतोष भी फैला करता था। अर्थशास्त्र से सूचित होता है कि जिस समय कोई शत्रु राजा अपनी सेना लेकर युद्ध-क्षेत्र में जाता था, उस समय कौटिल्य के दूत किसी प्रांतीय शून्यपाल के नौकर बनकर पौर-जानपदों से गुप्त रूप से मित्र बनकर कहा करते थे कि शून्यपाल ने

---

* अर्थशास्त्र ५. २. ९० ।

एतेन प्रदेशेन राजा पौर-जानपदान् भिक्षेत् ।

† अर्थशास्त्र १३. ५. १७६ ।

कोशदण्डदानमवस्थाप्य यदुपकुर्व्वाणः पौरजानपदान् कोपयेत् ।

कुपितैस्तैरेनं घातयेत् प्रकृतिभिरुपक्रुष्टमपनयेत् ॥

आज्ञा दी है कि ज्यों ही राजा लौटकर आवें, त्यों ही प्रजा से कर वसूल किए जायँ। और जब इस विषय पर मत देने के लिये पौरों की सार्वजनिक सभा होती थी, तब रात के समय गुप्त रूप से उनके नेताओं का काम तमाम कर दिया जाता था और दूत लोग यह अफवाह फैला देते थे कि ये हत्याएँ इसी लिये हुई हैं कि ये लोग शून्यपाल के प्रस्ताव का विरोध करते थे*। यह आशा की जाती थी कि इससे

---

* अर्थशास्त्र १२. २. १६३।

दुर्गेषु चास्य शून्यपालासन्नास्सत्रिणः पौरजानपदेषु मैत्रीनिमित्तमावेदयेयुः। शून्यपालेनोक्ता योधाश्च अधिकरणस्थाश्च कृच्छ्रागतो राजा जीवन्नागमिष्यति, न वा प्रसह्य वित्तमार्जयध्वममित्रांश्च हत इति। बहुलीभूते तीक्ष्णाः पौरान्निशास्वाहारयेयुः मुख्यांश्चाभिहन्युः एवं क्रियन्ते ये शून्यपालस्य न शुश्रूषन्ते इति। शून्यपालस्थानेषु च सशोणितानि शस्त्रवित्तबन्धनान्युत्सृजेयुः। ततस्सत्रिणः शून्यपालो घातयति विलोपयति च इत्यावेयायुः।

उक्त उद्धरण में के "बहुलीभूते" का जातक २. ४५ के "एबहुल" और मज्झिम निकाय के गोपक मग्गलान सुत्त में के "संबहुलेहि" के साथ मिलान करना चाहिए, जहाँ "संबहुलं" से ऐसी सभा का अधिवेशन करना सूचित होता है जिसमें किसी विषय का बहुमत द्वारा निराकरण होता हो।

शत्रु के देश में मतभेद और विरोध उत्पन्न होगा और वह दुर्बल हो जायगा।

रुद्रदामन् ने, जैसा कि उसने अपने शिलालेख में कहा है, अपने मंत्रियों के समक्ष यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि मौर्यों के विशाल जलाशय सुदर्शन ताल का जीर्णोद्धार करा दिया जाय। परंतु उसके मंत्रियों ने उसका वह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया था। इस पर रुद्रदामन् ने अपने निज के धन से उसकी मरम्मत कराई थी। वह कहता है कि इस काम के लिये मैंने आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिये पौर-जानपद जन या संस्था को कष्ट नहीं दिया *। इससे ठीक पहले उसने यह भी कहा है कि मैं अपनी प्रजा से उतना ही कर उगाहता हूँ, जितना कि मुझे (हिंदू-धर्मशास्त्रानुसार) प्राप्तव्य है†।

---

* Epigraghia Indica खंड ८, पृष्ठ ४४।

अपीडयित्वा करविष्टिप्रणयक्रियाभिः पौर-जानपदं जनं स्वस्मात्कोशा (न्) महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन ......सेतुं......कारितम्। ...... अस्मिन्नर्थे महाक्षत्रपस्य मतिसचिवकर्मसचिवैरमात्यगुणसमुद्युक्तैरप्यतिमहत्त्वाद्भेदस्यानुत्साहविमुखमतिभिः प्रत्याख्यातारंभं......इत्यादि।

† यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः १. १४।

सुदर्शन एक बहुत बड़ा ताल था जिससे खेतों की सिंचाई का काम लिया जाता था। राजधानी पहाड़ी के ऊपर स्थित थी और उस जलाशय से सबसे अधिक लाभ उन्हीं जानपद लोगों को होता था। जब तक हम यह बात न मान लें कि पौर और जानपद दोनों मिलकर व्यय स्वीकृत करते थे, तब तक इस बात का कोई ठीक-ठीक खुलासा नहीं हो सकता कि राजा पौरों को इसके लिये क्यों कष्ट देता।'

पौर-जानपद के समक्ष राजकीय भाषण

§ २७१. महाभारत में एक ऐसे वक्तव्य का उदाहरण पाया जाता है जो राजा के द्वारा उस समय उपस्थित किया जाता था जिस समय पौर-जानपद से कुछ विशिष्ट और नए कर माँगे जाते थे। मैंने यह वक्तव्य या भाषण सन् १९१२ में ही उद्धृत किया था; परंतु खारवेल के शिलालेख से पौर और जानपद की सम्मिलित संस्था का स्वरूप विदित होने से पहले उसका राष्ट्र-संघटन संबंधी ठीक-ठीक स्वरूप प्रकट नहीं हो सका था। इस वक्तव्य या भाषण से ठीक पहले जो पद है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उससे यह प्रकट होता है कि पौर-जानपद से व्यय के लिये धन स्वीकृत कराने के वास्ते राजा को किन उपायों का अवलम्बन करना पड़ता था। जानपद की सभा में बहुमत प्राप्त करने का उपाय दिया गया है और जानपद को परास्त करने में राजा

की बेईमानी का भंडा-फोड़ किया गया है। साथ ही उस उपाय से यह भी प्रमाणित होता है कि पौर-जानपद का अधिकार और बल धर्मशास्त्रानुमोदित था*। (महाभारत के अनुसार) किसी भावी आपत्ति से बचने का उपाय करने के लिये राजा लोग धन एकत्र करके रखते हैं। समस्त पौर-जानपदों (अर्थात् समस्त सदस्यों) को, जो अधिवेशन में सम्मिलित या संश्रित हों अथवा जो विश्राम कर रहे हों (अर्थात् उपाश्रित हों), अर्थात् उनमें से प्रत्येक को, चाहे वे धनवान न भी हों (राजकीय) अनुकम्पा या सहानुभूति विदित करा दी जानी चाहिए। उनके बाह्य जनों में भेद उत्पन्न किया जाना चाहिए और मध्य जनों को भली भाँति अपनी ओर मिला लेना चाहिए। जब

---

* महाभारत, शांतिपर्व, अ० ८७, श्लोक २३-२५. (कुंभकोणम् सं०)।

आपदर्थं च निचयान्राजानो हि विचिन्वते।
राष्ट्रञ्च कोशभूतं स्यात्कोशो वेश्मगतस्तथा॥
पौरजानपदान् सर्वान्संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथा शक्त्यनुकम्पेत सर्वान्स्वल्पधनानपि॥
बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम्।
एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः॥

राजा इस प्रकार कार्य करेगा, तब लोग उत्तेजित या कुपित नहीं होंगे, चाहे वे (उस भार को) हल्का समझें या भारी। तब धन माँगने से पहले राजा को उनके पास जाना चाहिए और उन्हें सम्बोधन करके भाषण के द्वारा राष्ट्र (जानपद) को इस प्रकार बतलाना चाहिए कि देश पर यह आपत्ति आ रही है*।

---

* उक्त ग्रंथ, पर्व और अ०, श्लोक २६-३४।

प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
सन्निपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥ २६ ॥

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः ॥ २७ ॥

अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥ २८ ॥

अस्यामापदि घोरायां संप्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥ २९ ॥

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयत्क्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयु बलादितः ॥ ३० ॥

कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
शरीरपुत्रदारार्थमर्थसञ्चय इष्यते ॥ ३१ ॥

"देखो, यह एक भय उत्पन्न हुआ है। शत्रु की बड़ी भारी सेना आई है। इससे हमारे अंत की उसी प्रकार सूचना मिलती है, जिस प्रकार बाँस में फल का आगम होने पर उसके अंत की सूचना मिलती है*। हमारे शत्रु लोग दस्युओं (विदेशी जंगलियों†) की सहायता से हमारे राज्य को हानि पहुँचाना चाहते हैं। परंतु उनका यह प्रयत्न

नंदामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥ ३२ ॥
आपत्स्वेव निवोढव्यं भवद्भिः संगतैरिह।
न वः प्रियतरं कार्य्यं धनं कस्यांचिदापदि ॥ ३३ ॥
इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद्योगमाधाय कालवित् ॥ ३४ ॥

* हमारे यहाँ के गाँवों में जब बाँस फलता है, तब उसका मालिक बहुत चिंतित होता है; क्योंकि इससे यह सूचित होता है कि सारी बँसवाड़ी या सब बाँस नष्ट हो जायँगे। बाँस का फूल देखने में धान की बाल की तरह होता है।

† मनु (१०-४५) और महाभारत शांतिपर्व (६५-१३-१७) दोनों में 'दस्यु' एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है जो विदेशी जातियों का सूचक है।

स्वयं उन्हीं के लिये आत्मवध के तुल्य प्रमाणित होगा। हे महाशयो, यह घोर और दारुण भय प्राप्त होने के कारण इससे आप लोगों का परित्राण करने के लिये मैं आप लोगों से धन की प्रार्थना करता हूँ। जिस समय इस विपत्ति का अंत हो जायगा, उस समय मैं आप लोगों का समस्त धन पूरा-पूरा लौटा दूँगा। युद्ध में यदि शत्रु लोग बलपूर्वक यहाँ से कुछ उठा ले जायँगे, तो वह वे नहीं लौटावेंगे। कलत्र या परिवार से लेकर और जो कुछ आप लोगों के पास है, वह सब वे लोग नष्ट कर देंगे। केवल शरीर, संतान और दारा की रक्षा के लिये ही धन की आवश्यकता है। आप लोगों की सुख-समृद्धि से मैं उतना ही आनंदित होता हूँ जितना कि स्वयं अपने पुत्रों की सुख-समृद्धि से होता हूँ। बिना आप लोगों को या राष्ट्र को पीड़ित किए हुए मैं आप लोगों से उतना ही धन लूँगा, जितना आप लोग अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार दे सकेंगे। आपत्तियों के समय मान्य सभा (भवद्भिः संगतैः) को भार वहन करना चाहिए। आपत्ति के समय आप लोगों को धन अधिक प्रिय न होना चाहिए।"

इस प्रकार मधुर और सद्भावपूर्ण बातों से और सज्जनता दिखलाते हुए (सोपचारो) राजा लोग धन प्राप्त करने के लिये (धनादान) अपना वक्तव्य उपस्थित किया करते थे। जब धन माँगने और उसके लिये अपना वक्तव्य

उपस्थित करने का समय आता था, तब प्रत्येक पौर और प्रत्येक जानपद अर्थात् प्रत्येक सदस्य की ओर विशिष्ट रूप से ध्यान देकर राजा को उसे प्रसन्न करना पड़ता था* । पौर-जानपदों के बाह्य अंग से हम लोग पहले ही परिचित हो चुके हैं। जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, रामायण में भी यही पारिभाषिक शब्द आता है। परंतु मध्य अंग से क्या अभिप्राय: है ? यहाँ इससे उसके आभ्यंतर अंग का अभिप्राय है। उनके अधर्मयुक्त आचरण के कारण उनका उपयोग या भोग किया जाता था और वे पुरस्कृत किए जाते थे। राजा अपने प्रस्ताव का समर्थन कराने के लिये उन्हें अपनी ओर मिला लेता था।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पौर-जानपद को संबोधन करते समय बहुत ही शिष्ट और मधुर भाषा का व्यवहार किया जाता था। उसमें भवत् और भवद्भिः संगतैः आदि सर्वनामों का व्यवहार किया जाता था, जिनका अभिप्राय है—आप महानुभाव और आप महानुभावों का समूह †।

---

* उक्त ग्रंथ, पर्व और अध्याय; श्लोक २६ ।

† जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, उस समय की अन्यान्य सार्वजनिक संस्थाओं की कार्य प्रणाली से भी यही

§ २७२. पौर-जानपद प्राय: अनुग्रह (रिआयत) की याचना करते थे और अनुग्रह प्राप्त करते थे। खारवेल अपने शिलालेख में कहता है कि एक विशिष्ट वर्ष में मैंने पौर और जानपद को बहुत से अनुग्रह प्रदान किए थे। कौटिल्य के अनुसार शत्रु के देश के पौर-जानपदों (नेताओं) को अपने गुप्त दूतों के द्वारा यह परामर्श दिलाना चाहिए कि आप लोग अपने राजा से अनुग्रहों की याचना करें। परंतु ऐसा प्राय: उन्हीं देशों में हो सकता था, जिनमें अकाल, चोरियाँ और अटवियों (सीमांत की जंगली जातियों) के आक्रमण हुआ करते थे। याज्ञवल्क्य २. ३६* के साथ इसका मिलान होना चाहिए, जिसमें यह

पौर - जानपद और अनुग्रह या रिआयतें

सूचित होता है कि जानपद और पौर में व्यक्तिगत सम्मति लेने की प्रथा प्रचलित थी। ऊपर के उद्धरण में बाह्य अंग में भेद-भाव उत्पन्न करने और मध्य अंग को अपनी ओर मिलाने का जो आदेश है, उसमें भी यही भाव निहित है।

* याज्ञवल्क्य २. ३६।

देयं चौर-हृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु।
अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं यस्य तस्य तत्॥

कहा गया है कि चोरों के धन हरण करने से जानपद (एक-वचन) की जो हानि हो, उसकी पूर्त्ति राजा को करनी चाहिए (साथ ही देखो § २८१)। कौटिल्य का मत है कि पौर-जानपद को अनुग्रह की याचना करते समय साथ में यह भी कहना चाहिए कि यदि हमें अनुग्रह न प्रदान किया जायगा तो हम यह देश छोड़कर शत्रु के देश में चले जायँगे*।

§ २७३. कौटिल्य के आदेश से यह भी सूचित होता है कि जिन अनुग्रहों की याचना की जाती थी, वे आर्थिक हुआ करते थे†; क्योंकि उसने कहा है कि केवल वही

याज्ञवल्क्य का यह श्लोक मनु ८. ४०. से मिलता है। देखो मेधातिथि की टीका। मिलाओ—

प्रत्याहर्तुमशक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि।
स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीभृता।

—मिताक्षरा में द्वैपायन।

* अर्थशास्त्र १३. १. १७१. (पृ० ३९४)

दुर्भिक्षस्तेनाटव्युपघातेषु च पौरजानपदानुत्साहयन्तः सत्रिणो ब्रूयुः राजानमनुग्रहं याचामहे निरनुग्रहाः परत्र गच्छाम इति।

† अर्थशास्त्र २. १. १९. (पृ० ४७)

अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कोशोपघातिकौ वर्जयेत्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते।

अनुग्रह और परिहार (आर्थिक रिआयतें) प्रदान किए जाने चाहिएँ जिनसे राजकीय कोश की वृद्धि हो; और जिनसे कोश क्षीण होता हो, उनके प्रदान से बचना चाहिए; क्योंकि पौर-जानपद को वही राजा ग्रसता है जिसके पास धन कम होता है।

वह कहता है कि अकाल के समय परिहार प्रदान करना चाहिए; और बतलाता है कि जब सिंचाई के लिये ताल आदि बनवाने की आवश्यकता हो, तब अनुग्रह प्रदान करना चाहिए*। अशोक अपने स्तम्भाभिलेखों में कहता है कि मेरे द्वारा स्वतंत्र किए हुए राजुकों या शासक-मंत्रियों को चाहिए कि वे जानपद संस्था को अनुग्रह प्रदान करें (§३१८)। रुद्रदामन् ने सुदर्शन ताल का जो जीर्णोद्धार कराया था, उसे वह पौर-जानपद के प्रति अपना अनुग्रह-प्रदान बतलाता है†।

---

* उक्त ग्रंथ तथा प्रकरण आदि।

निवेशसमकालं यथागतकं वा परिहारं दद्यात्। निवृत्त-परिहारान् पितेवानुगृह्णीयात्। आकरकर्मान्तद्रव्यहस्तिवन-व्रजवणिक्पथप्रचारान्वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्। सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा बध्नतां भूमिमार्गवृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्।

† Epigraphia Indica खंड ८. पृ० ४५।

§ २७४. इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथों से भी यह प्रमाणित होता है कि जिस समय राजा कोई बहुत बड़ा यज्ञ करने का विचार करता था, उस समय वह अपने राष्ट्र-विधान के नियमों के अनुसार नवीन कर* प्राप्त करने के लिये जानपद और नैगम या पौर से प्रार्थना करता था। उस अवसर का जो राजकीय वक्तव्य या भाषण दिया गया है, उसमें भी नम्रता और सज्जनता बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। याचना का रूप इस प्रकार का हुआ करता था—

बड़े यज्ञ के लिये राजा का नैगम-जानपद से स्वीकृति लेना

"मैं एक बड़ा यज्ञ करने का विचार करता हूँ। महानुभाव लोग (माननीय लोग, र्‍हीस डेविड्स) उस कार्य के लिये मुझे अपनी स्वीकृति दें जो मेरे लिये कल्याणकारी होगा†।"

पुनः सेतुबन्धनैराश्याद् हाहाभूतासु प्रजासु इहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन—इत्यादि।

* र्‍हीस डेविड्स, दीघ निकाय, कूटदन्त सुत्त; § ११ Dialogues of Buddha खंड २, पृ० १७५।

† दीघ निकाय, कूटदन्त सुत्त § १२।

इच्छामहं भो महायञ्ञं यजितुं अनुजानन्तु मे भोन्तो यं मम अस्स दीघरत्तं हिताय सुखायाति।

यदि इस पर पौर-जानपद अपनी अनुमति दे देता था, तो राजा वह यज्ञ करता था और देश को उसके लिये कर देना पड़ता था।

§ २७५. इस प्रकार पौर-जानपद के समक्ष जाकर उनसे असाधारण कर देने के लिये प्रार्थना की जाती थी; और पौर-जानपद राजा से अनुग्रह या आर्थिक रिआयतें माँगते और प्राप्त करते थे। यह बात बिलकुल निश्चित तो नहीं है, परंतु फिर भी बहुत कुछ संभव जान पड़ती है कि बड़ी बड़ी सेनाएँ खड़ी करने में राजा पौर-जानपद का उपयोग करता था अथवा उनसे सहायता लेता था। ऊपर अर्थ-शास्त्र के जो उद्धरण दिए गए हैं, और जिनमें करों के साथ सेनाएँ खड़ी करने का भी उल्लेख है, उनसे इसी बात की संभावना सूचित होती है।

§ २७६. अर्थशास्त्र में कहा गया है कि राजा को नित्य अमुक इतने समय तक पौर-जानपदों का काम देखना चाहिए*।

---

* अर्थशास्त्र ८. १६. १६. (पृ० ३७)

द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्।

मिलाओ महाभारत शांतिपर्व, ४०. १६।

पौरजानपदानां च यानि कार्याणि नित्यशः।

राजानं समनुज्ञाप्य तानि कार्याणि धर्मतः॥

इससे प्रमाणित होता है कि पौर-जानपदों का काम कोई ऐसा साधारण नहीं था जो कभी-कभी किसी विशेष आवश्यकतावश उपस्थित हुआ करता हो। अर्थात् उनके मामले नित्य राजा के सामने जाया करते थे। उनके ये सब काम अवश्य ही आर्थिक विषयों से संबंध रखते होंगे; और यदि उन्हें राजकीय सेनाएँ खड़ी करने के लिये धन संग्रह भी करना पड़ता होगा, जो बहुत कुछ संभाव्य जान पड़ता है, तो अवश्य ही सैनिक मामले भी उनके काम के अंतर्गत रहे होंगे। राजा के सामने नित्य उनके मामले उपस्थित होने से सूचित होता है कि कम से कम पौर-जानपद के आभ्यंतर अंग या स्थायी समवाय को उतने समय तक बहुत ही व्यस्त रहना पड़ता होगा।

राजा के साथ पौर-जानपद का नैत्य कार्य्य

§ २७७. ऊपर जो काम बतलाए गए हैं, केवल उन्हीं से पौर-जानपदों का संबंध नहीं था। हमें इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि बोध-गया की यात्रा के उपरांत अशोक ने जानपद संस्था से अपने नए धर्म के संबंध में वाद-विवाद किया था*। समाज के लिये अशोक एक नई

अशोक का नया धर्म और जानपद

---

* प्रधान शिलाभिलेख ८ (गिरनार)
ब्राह्मणस्रमणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे च

व्यवस्था करना चाहता था और पुरानी या सनातन व्यवस्था का अंत कर देना चाहता था। वह जो क्रांति करना चाहता था, उसके संबंध में वह लोगों के भाव जानना चाहता था। वह पौर-जानपद को अपने पक्ष में करना चाहता था और उसने सर्व साधारण में इस बात की घोषणा कर दी थी कि मैंने जानपद के दर्शन करके उनसे धर्म के संबंध में वाद-विवाद किया था। इससे यह सूचित होता है कि वे केवल कर और आर्थिक उन्नति संबंधी विषयों के ही साधन नहीं थे, बल्कि देश के हित की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात से उनका संबंध था।

पौर का महत्त्व; पौर और शासन कार्य

§ २७८. हमें इसका भी उल्लेख मिलता है कि पौर को राजा की ओर से ऐसे कार्य संपादित करने का आदेश मिला करता था जो महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त वास्तव में शासन कार्य या दंड विभाग से संबंध रखते थे। अशोक की रानी तिष्यरक्षिता ने सम्राट् के नाम का एक

हिरंणपटिविधानो च जानपदस च जनस दसनं धंमानुसस्टी च धंमपरिपुच्छा च........।

देखो आगे स्तंभाभिलेख ७ में जानपद का उल्लेख (हिंदू मंत्रिपरिषद्)

जाली पत्र बनाकर और उस पर हाथीदाँत की मोहर करके तक्षशिला के पौर के नाम भेजा था। दिव्यावदान में इस संबंध में जो कथा दी गई है, वह चाहे ठीक हो या न हो, परंतु इतना अवश्य है कि जिस समय दिव्यावदान की रचना हुई थी, उस समय तक यदि लोगों को यह बात न मालूम होती कि राजा की ओर से पौरों को इस प्रकार और इस आशय के पत्र भी भेजे जाते हैं, तो यह कथा इस रूप में और इतने विस्तार के साथ न लिखी जाती। उस पत्र में पौर से कहा गया था कि राजप्रतिनिधि राजकुमार को दंड दो; क्योंकि वह राजकुल का शत्रु और द्रोही है*। मृच्छकटिक से पता चलता है कि जो संस्थानक न्यायालय से निर्दोष सिद्ध हुआ था, उसके संबंध में लोगों ने पौरों

---

* राजा ह्यशोको बलवान् प्रचण्ड आज्ञापयत् तक्षशिलाजनं हि
उद्धार्यतां लोचनमस्य शत्रोर्मौर्य्यस्य वंशस्य कलङ्क एषः ॥
—दिव्यावदान पृ० ४१०.

यहाँ "जन" शब्द का जो व्यवहार किया गया है, वह ध्यान देने योग्य है; और उसका मिलान अशोक के शिलालेख के "जानपद जन" तथा रामायण के "पौर-जानपदो जनः" से होना चाहिए। भाव के विचार से यह शब्द समूह का सूचक है।

से कहा था कि वास्तव में यही संस्थानक दोषी है और आप इसे प्राणदंड दें। यहाँ संभवतः पौरों से पौर-जानपद का अभिप्राय है, क्योंकि उनका उल्लेख जनपद समवाय के उपरांत हुआ है।

§ २७६. यह माना जाता था कि राजकुमार राजप्रतिनिधि उनकी सभा में जाता था*। महाभारत के एक श्लोक से

राजा और शासक का पौर-जानपद में जाना

यह भाव सूचित होता है कि स्वयं राजा भी पौर-जानपद सभा में जाया करता था। उन लोगों के आने पर अशोक उनका बहुत आदर-सत्कार करता था।

§ २८०. महाभारत में राजनीतिक दार्शनिक वामदेव का जो उद्धरण दिया गया है, उसमें पौर और जानपद का

पौर-जानपद राज्य बना सकते थे और नष्ट कर सकते थे

समस्त महत्त्व केवल इतना कहकर बतला दिया गया है कि पौर-जानपद यदि चाहें, तो राज्य को बना सकते हैं; और यदि चाहें, तो नष्ट भी कर सकते हैं। यदि वे लोग संतुष्ट हों, तो उनके द्वारा राज्य का

---

* पश्यामि कुनालं...पौरं प्रविष्टः।
—दिव्यावदान पृ० ४१०.

सब काम भली भाँति होता रहेगा। और यदि वे संतुष्ट न हों, तो वे शासन का कार्य असंभव कर देंगे; क्योंकि वे विरोधी बन जायँगे। इसलिये राजा को अपने आचरण से उन्हें प्रसन्न या अनुरक्त रखना चाहिए और उन्हें किसी प्रकार पीड़ित नहीं करना चाहिए*।

जिस प्रकार पौर संस्था राजधानी में दरिद्रों और अनाथों की सेवा करती थी†, उसी प्रकार जानपद-संस्था भी अपनी सीमा के अंदर उनकी सेवा करती थी। वामदेव ने जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे यह सूचित होता है कि जिस समय जानपद और पौर संस्थाएँ दरिद्रों और अनाथों

---

* महाभारत, (कुंभकोणम्) शांतिपर्व, ६४. १६।

पौरजानपदा यस्य स्वनुरक्ता अपीडिताः।
राष्ट्रकर्मकरा ह्येते राष्ट्रस्य च विरोधिनः॥

[पाठ की संगति और व्याकरण के विचार से १६वाँ श्लोक १८वें श्लोक से ठीक पहले होना चाहिए। परंतु वह वहाँ से हटाकर अपने वर्तमान स्थान पर रख दिया गया है। १७वें श्लोक की संगति वास्तव में १५वें श्लोक के साथ बैठती है।]

† तथानाथदरिद्राणां संस्कारो यजनक्रिया। इत्यादि। देखो पृष्ठ १३५ की अंतिम टिप्पणी।

के प्रति अपना कर्त्तव्य छोड़ देती थीं, उस समय राजा की सरकार संकट में पड़ जाती थी। उक्त दोनों संस्थाओं के जो जो कार्य हमने ऊपर बतलाए हैं, उन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि ये संस्थाएँ चाहतीं तो अनेक प्रकार से शासन कार्य असंभव कर सकती थीं। दरिद्रों और अनाथों की सहायता न करने से भारी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती थीं; और इसलिये उनका यह काम भी बहुत महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। वामदेव का कथन है कि यदि पौर-जानपद सब जीवों पर दयालु रहें, (इस काम के लिये) धन और धान्य से युक्त रहें, तो राजसिंहासन का मूल बहुत दृढ़ हो जाता है* ।

---

* पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः ।
सधना धान्यवन्तश्च दृढ़मूलः स पार्थिवः ॥ महा०, शां० प० (कुंभ०) ६४. १८ ।

पौर और जानपद संस्थाओं के हाथ में धन-संपत्ति होने के संबंध में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन संस्थाओं के पास केवल धन और संपत्ति ही नहीं होती थी, बल्कि जैसा कि बृहस्पति और कात्यायन के धर्मशास्त्रों से विदित होता है, वे कानून के अनुसार धन ऋण भी ले सकती थीं।

§ २८१. यदि राजा उचित रूप से व्यवहार नहीं करता था, तो पौर-जानपद एक और प्रकार से उसके शासन-कार्य में कठिनता उत्पन्न कर सकते थे। यदि वे असंतुष्ट हो जाते थे, तो राजा से कहते थे कि चोरियों, डकैतियों तथा इसी प्रकार के दूसरे उपद्रवों के कारण हम लोगों की जो आर्थिक क्षति हुई है, उसकी पूर्त्ति राजा अपने कोश से करे। इस विलक्षण* माँग या कारवाई का समर्थन हिंदू धर्मशास्त्रों से भी होता है। यदि हम कर संबंधी हिंदू सिद्धांत का ध्यान रखें, तो यह बात बहुत सहज में हमारी समझ में आ सकती है। राजा को वेतन या पारिश्रमिक के रूप में ही कर दिया जाता था; और वह वेतन या पारिश्रमिक प्रजा की रक्षा के लिये होता था (देखो आगे § ३३८)। इसमें फलित या तर्कजन्य सिद्धांत यह था कि यदि आभ्यंतर और बाह्य दोनों प्रकार की पूर्ण रक्षा न प्राप्त हो, तो नियोजक को इस बात का

राजा से क्षति-पूर्त्ति की याचना

---

* श्रीयुक्त (अब स्व०) गोविंददास जी लिखते हैं—"मैं समझता हूँ कि अभी बहुत हाल तक अनेक राजपूत राज्यों में यह प्रथा प्रचलित थी कि प्रजा के यहाँ जो चोरियाँ होती थीं, उनकी पूर्त्ति राजा के कोश से की जाती थी।"

अधिकार है कि वह नियुक्त व्यक्ति के वेतन या पारिश्रमिक में से उसका कुछ अंश काट ले। याज्ञवल्क्य के अनुसार क्षतिपूर्त्ति के चिट्ठे जानपद के द्वारा उपस्थित किए जाते थे; क्योंकि वह कहता है कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह जानपद को क्षतिपूर्त्ति की रकम दे*। ऊपर अर्थशास्त्र का एक उद्धरण दिया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि यदि किसी शत्रु राज्य में सीमांत बर्बर आक्रमण करें, तो गुप्तचर लोग उस शत्रु राज्य के पौरों और जानपदों से कहें कि अपने राजा से अनुग्रहों की याचना करो†। इससे भी यही सूचित होता है कि उन दिनों यह प्रथा प्रचलित थी कि लोग राजा से अपनी क्षति की पूर्त्ति करने के लिये कहा करते थे।

कृष्ण द्वैपायन ने कहा है—"यदि चोरों के द्वारा हरण हुए द्रव्यों का राजा पता न लगा सके, तो वह अशक्त राजा

---

* देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु।
अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं यस्य तस्य तत् ॥
—याज्ञवल्क्य २. ३६.

साथ ही मिलाओ नीचे के और उद्धरण।

† अर्थशास्त्र १३. २. १७१. (पृ० ३९४)

उसकी पूर्ति अपने निज के कोश से (स्वकोशात्) करे* ।" रुद्रदामन् के शिलालेख से सूचित होता है कि स्वकोश से अभिप्राय राजा के व्यक्तिगत और निजी धन का है, न कि राजकोश या सार्वजनिक कोश का । द्वैपायन का भी यही आशय है; इसलिये प्रजा की क्षति की जो पूर्ति इसी से मिलते-जुलते याज्ञवल्क्य के नियम के अनुसार जानपद को धन देकर की जाती थी, वह मानों स्वयं राजा पर एक प्रकार का व्यक्तिगत अर्थदंड या जुरमाना हुआ करता था† ।

---

* प्रत्याहर्तुमशक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि ।
स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीभृता ।।
—याज्ञवल्क्य २. ३६. के संबंध में मिताक्षरा में उद्धृत ।

† मनु ८. ४०. दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।

नंदन के अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि चोरी आदि के कारण सब वर्णों की जो क्षति हुई हो, उसकी पूर्ति राजा करे । उद्भट टीकाकार मेधातिथि ने भी यही अर्थ दिया है ।

§ २८२. महाभारत में मिलनेवाले प्रमाण से हमें यह पता चलता है कि जानपद और पौर के सदस्य साधारणतः धनवान् लोग हुआ करते थे। जो लोग धनवान् नहीं होते थे, वे भी कम से कम गरीब नहीं होते थे।

जानपद का निर्वाचन-क्षेत्र

दशकुमारचरित* में इस प्रकार का एक उल्लेख है कि जानपद के प्रधान या मुख्य से राजा ने यह नियम-विरुद्ध और अनुचित प्रार्थना की थी कि अमुक ग्राम्य सभा के मुख्य या ग्रामणि को तुम पीड़ित करो। इसमें भी जानपद सदस्य का संबंध ग्राम्य संस्था से ही दिखलाया गया है। अर्थशास्त्र के अनुसार जानपद का संघटन ग्रामों और नगरों से होता था†। अतः यह मान लेने में कोई हानि नहीं है कि जानपद का निर्वाचन ग्राम्य संस्थाओं के द्वारा भी होता था और नगर-संस्थाओं के द्वारा भी।

ग्रामणि साधारणतः धनवान् पुरुष हुआ करता था और वह वैदिक उल्लेखों के अनुसार‡ वैश्य तथा पाली धर्म-ग्रंथों

---

* दशकुमारचरित, ३।

† अर्थशास्त्र २. १. १६।

‡ मैत्रायणी संहिता १. ६. ५. और ४. ३. ८।

के* अनुसार क्षत्रिय हुआ करता था। इससे जान पड़ता है कि जानपद के जो सदस्य निर्वाचित होते थे, वे संभवत: ग्रामणि वर्ग के ही लोग हुआ करते थे।

पाली सूत्र† (दीघ निकाय का कूटदंत सूत्र) से, जो प्रायः महात्मा बुद्ध के समय का ही रचा हुआ माना जाता है, संभवतः यह बात विस्तृत रूप से जानी जा सकती है कि नैगम या पौर और जानपद का संघटन किस प्रकार होता था। राजा उन क्षत्रियों को अपने जनपद में (रञ्ञो जनपदे) निमंत्रित किया करता था जो उस समय के नेगम या जानपद हुआ करते थे (अनुयुत्ता नेगमा चेव जानपदा च)। वह उन नेगमों और जानपदों को भी निमंत्रित करता था जो पौर और जानपद के अधिकारी और मंत्री हुआ

---

* देखो "हिंदू राज्यतंत्र" पहला भाग, पृ० १४३ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

† दीघ निकाय, कूटदन्त सुत्त १२ आदि।

ये भोतो रञ्ञो जनपदे खत्तिया अनुयुत्ता नेगमा चेव जानपदा च ... ये भोतो (इत्यादि) अमच्चा पारिसज्जा नेगमा चेव जानपदा च ...ये भोतो (इत्यादि) ब्राह्मण-महासाला नेगमा चेव जानपदा च ... ये भोतो (इत्यादि) गहपतिनेचयिका नेगमा चेव जानपदा च...

करते थे और नैगम और जानपद ब्राह्मणों को, जिनके पास बड़े बड़े गृह होते थे और उन गहपति नैगमों और जानपदों को, जो नैचयिक वर्ग के होते थे, निमंत्रित करता था। गहपति वर्ग में साधारण नागरिक वैश्य और शूद्र हुआ करते थे, जो बिल्कुल स्वतंत्र होते थे और कृषि या व्यापार आदि करते थे; अर्थात् वे लोग अपनी अपनी गृहस्थी के स्वामी हुआ करते थे। नैचयिक कदाचित् धनवान् गृहपति सदस्यों का सूचक है और महाभारत में बतलाए हुए पौर और जानपद के स्वल्प धन या थोड़ी संपत्तिवाले सदस्यों के वर्ग का विपरीत वर्ग है। इससे सूचित होता है कि पौर और जानपद में प्रायः सभी प्रकार के लोग हुआ करते थे। कदाचित् दरिद्र परंतु बुद्धिमान् ब्राह्मण उनमें नहीं लिए जाते थे, क्योंकि उनके सम्पत्तिशाली होने की शर्त लगाई गई है। जिन वृत्तस्थ ब्राह्मणों का हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे और जो उपनिषदों तथा धर्मसूत्रों में बतलाए हुए आदर्शों के अनुसार जीवन निर्वाह करते थे, वे कदाचित् उन संस्थाओं में नहीं लिए जाते थे जिनके सदस्य होने के लिये सम्पत्तिशाली होने की शर्त होती थी। यदि हम इस तत्त्व का ध्यान रखें, तो हम समझ सकेंगे कि रामायण में जहाँ युवराज की नियुक्ति के संबंध में परामर्श करने के लिये पौर-जानपद एकत्र हुए हैं, वहाँ ब्राह्मणों का एक अलग वर्ग के रूप में क्यों उल्लेख हुआ

है*। इससे यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि जानपद संस्था समस्त देश की प्रतिनिधि हुआ करता थी। उसे स्वयं राष्ट्र और देश कहा गया है। सदस्यों के विचार से पौर एक अच्छी और बड़ी संस्था थी; और जानपद, संख्या के विचार से, संभवतः उससे भी और बड़ी संस्था होती थी।

पौर का संघटन

§ २८३. पौर के संघटन के संबंध में हमें एक और भी स्पष्ट चित्र मिलता है। पाटलिपुत्र के पौर की कार्य-कारिणी अथवा शासक सभाओं का मेगास्थिनीज ने जो वर्णन किया है†, वह यदि देश की सार्वजनिक संस्थाओं की कार्य-प्रणाली के प्रकाश में देखा जाय, ता उससे सूचित होता है कि पौर संस्था कई छोटी छोटी सभाओं या समितियों में विभक्त थी जो राजधानी के भिन्न भिन्न अंगों या वर्गों का प्रतिनिधित्व करती थीं। पौर संस्था वास्तव में अन्यान्य संस्थाओं के लिये एक प्रकार से मातृ-संस्था के रूप में

---

* ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह।
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतां गतबुद्धयः॥
—रामायण, अयोध्या कांड, २.१६.२०. (कुंभ०)

† देखो § २५६.

थी। पाणिनि और संभवतः कात्यायन ने भी संघ शब्द केवल राजनीतिक संघ के संकुचित या परिमित अर्थ में ही व्यवहृत किया है; परंतु पतंजलि ने संघ शब्द का बहुत अधिक विस्तृत अर्थ में व्यवहार किया है और उसे एक समूह या सभा के रूप में लिया है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, पतंजलि ने कहा है कि संघ पाँच, दस और बीस आदमियों के हुआ करते हैं*। पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि पतंजलि की भाँति कौटिल्य ने भी संघ शब्द का साधारण समूह के अर्थ में व्यवहार किया है †, यद्यपि पाणिनि के पारिभाषिक अर्थ से ये दोनों ही भली भाँति परिचित थे। जब हम महावग्ग (९. ४. १.) को देखते हैं, जिसमें लिखा है कि संघ की गणपूर्त्ति पाँच, दस, बीस या और अधिक सदस्यों की उपस्थिति से हो सकती है, तो इस शब्द की विशिष्टता या महत्त्व और भी अधिक स्पष्ट हो

---

* देखो § २५७ की पाद-टिप्पणी।

† अर्थशास्त्र ३. १४. ६६ (पृ० १८५) तेन संघभृता व्याख्याताः। २. १. १६. (पृ० ४८.) सजातादन्य संघः। ३. ३. ६२. (पृ० १७३) देशजातिकुलः-संघानाम्।

जाता है। अतः पतंजलि ने जिस पंचिक संघ का उल्लेख किया है, वह पाँच सदस्यों की गणपूर्त्ति है। मेगास्थिनीज ने पाँच पाँच सदस्यों की जो समितियाँ बतलाई हैं, वे यही पंचिक संघ थीं। यदि पाँच सदस्यों की समितियाँ पंचिक संघ थीं, तो वे अलग-अलग स्वतंत्र संस्थाओं की प्रतिनिधि रही होंगी और उन सबका सम्मिलित अधिवेशन प्रधान या मातृ-सभा का अधिवेशन होता होगा। हमने इसका यहाँ जो अर्थ किया है, उसका समर्थन इस बात से भी होता है कि पौर के एक से अधिक मुख्य या श्रेष्ठ होते थे*। और मेगास्थिनीज ने कहा है कि नगर में कई कई मजिस्ट्रेट होते थे†। मुद्राराक्षस‡ में जब महामंत्री चाणक्य (कौटिल्य) चंदनदास को अपने पास बुलाता है, तब वह उसका बहुत अधिक आदर-सत्कार करके उससे पूछता है कि नगरनिवासी नए राजा के प्रति भक्ति और निष्ठा तो रखते हैं? उस

---

* रामायण, अयोध्या कांड, १५. ५. २. मुख्या ये निगमस्य च। १४. ५. ४०. पौरजानपदश्रेष्ठः।

† देखो § २५६।

‡ पहला अंक। मुद्राराक्षस (लगभग ४२० ई०) के समय के लिये देखो इंडियन एंटिक्वेरी १९१३, पृ० २६५ और १९१७, पृ० २७५ में जायसवाल के लेख।

समय चंदनदास कहता है कि सारा देश राजभक्त है; परंतु वह वास्तव में केवल जौहरियों की सभा का प्रधान या मणिकार श्रेष्ठी है। दशकुमारचरित* में जिन दो पौर मुख्यों का उल्लेख है, उनमें से एक उन व्यापारियों का मुख्य है जो केवल विदेशों से व्यापार करते थे। अर्थशास्त्र में जहाँ पौर-जानपदों के राजनीतिक विचार जानने के लिये गुप्त दूत भेजने का उल्लेख है, वहाँ कहा गया है कि वे लोग तीर्थों, सभा-शालाओं, पूगों और सर्वसाधारण के समवायों में जायँ†। केवल अंतिम समवाय को छोड़कर इनमें के शेष सब समवाय प्रायः वही हैं, जिनका मेगास्थिनीज ने उल्लेख किया है (जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है) और जो सार्वजनिक भवनों, मंदिरों, देश में बननेवाली चीजों और वाणिज्य-व्यापार आदि की देख-रेख किया करते थे। हम गौतम का प्रमाण भी दे चुके हैं, जिससे सिद्ध होता है कि शूद्र सदस्य भी हुआ करते थे‡। संभवतः वे लोग जाति-संघों के द्वारा निर्वाचित होते थे अथवा कुछ

---

* दशकुमारचरित, ३।

† अर्थशास्त्र १. १३. ६. (पृ० २२)

‡ देखो पृ० १३४ की पाद-टिप्पणी।

कारीगरों के संघों के प्रतिनिधि हुआ करते थे। जान पड़ता है कि पूग संघ या सभा में व्यापारियों और व्यवसायियों के प्रतिनिधि हुआ करते थे और वे मध्यम श्रेणी के संपन्न व्यक्ति होते थे। इस प्रकार राजधानी में रहनेवाले भिन्न भिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों से पौर का संघटन होता था।

§ २८३ (क). रामायण में कुछ ऐसी अलग संस्थाओं का विस्तृत विवरण मिलता है जिनसे संभवतः ई० पू० ५०० में नैगम का संघटन हुआ करता था। जिस प्रकार राम के यौवराज्याभिषेक के संबंध में पौर-जानपद नैगम के साथ आते हैं, उसी प्रकार जब आगे चलकर दूसरे अवसर पर राम के राज्यारोहण का प्रश्न उपस्थित होता है, तब पौर-नैगम या जानपद अथवा कदाचित् वे सब के सब सामने आते हैं। छठे या युद्ध कांड में (१२७. ४.) जब रामचंद्र अयोध्या को लौटते हैं, तब सब श्रेणीमुख्य और गण या पार्लिमेंट (संभवतः जानपद) के सदस्य उनका स्वागत करने के लिये नगर के बाहर जाते हैं। १६वें श्लोक से सूचित होता है कि भरत के साथ जहाँ मंत्री लोग हैं, वहाँ वे भी उनके साथ हैं और वहाँ वे लोग श्रेणीमुख्य और नैगम कहे गए हैं। नैगम लोग वैश्यों और शूद्रों के प्रतिनिधि-स्वरूप राम का अभिषेक करते हैं (अ० १२८. श्लोक ६२)। जब दशरथ की मृत्यु होने पर भरत अपने मामा के यहाँ से बुलाए जाते हैं, तब श्रेणी लोग भरत के

प्रस्तावित उत्तराधिकार का समर्थन करते हैं, जिसकी उन्हें सूचना दी जाती है (अयो० कां० ७६. ४)। राम टीका में "श्रेणयः" का अर्थ करते हुए "पौराः" लिखा गया है और गोविंदराज ने उसके स्थान पर "नैगमाः" लिखा है। संभवतः "श्रेणयः" (श्रेणियाँ) का व्यवहार उसी प्रकार उसके प्राथमिक अर्थ में किया गया है, जिस प्रकार ६. १२७ में गणों का किया गया है; अर्थात् वह पौर और जानपद दोनों सभाओं का सूचक है। इसके उपरांत जब रामचंद्र को वनवास से लौटाने के लिये भरत जाते हैं, तब मंत्रियों के सिवा "गण के प्रिय" भी उनके साथ जाते हैं (८१. १२)। कुछ और आगे चलकर (८३. १०) गणों के इन प्रियों या निर्वान्वित शासकों का फिर उल्लेख आया है। वहाँ उनका उल्लेख नागरिकों * (नैगमों), संमत होनेवालों (संमता ये) और सब मंत्रियों के साथ आया है। इसके उपरांत तुरंत ही (श्लोक १२ आदि) व्यापार और कला आदि के उन भिन्न भिन्न वर्गों या सभाओं आदि का विस्तृत विवरण है, जिनसे नैगम का संघटन होता था। उनमें

---

* यहाँ नागरिकों से पौरों का ही अभिप्राय जान पड़ता है।

निगम शब्द है, वे मुद्राएं निगम या पौर की सर्व-प्रधान या मातृ-सभा की मुद्राएँ हैं। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं*, कुलिक वास्तव में पौर का एक जज या न्यायाधीश हुआ करता था। अतः प्रथम कुलिक उस पौर न्यायालय का पहला या सर्व-प्रधान जज या न्यायाधीश हो सकता है। जान पड़ता है कि श्रेष्ठी या प्रधान उनकी सार्वजनिक सभा का प्रधान हुआ करता था। जिस मुद्रा पर "श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम" लिखा है, वह निगम के भिन्न भिन्न विभागों या समवायों के तीन प्रधानों की सूचक है। अलग अलग मुद्राएँ उन संस्थाओं के अलग अलग कुलिक या जज की न्याय विभाग संबंधी मुद्राएँ हैं।

जानपद और पौर के धर्म

§ २८५. जैसा कि हम पिछले प्रकरण में बतला चुके हैं, पौर के धर्म या कानून और जानपद के धर्म या कानून हिंदू धर्मशास्त्रों में मान्य किए गए हैं। वे धर्म या कानून वास्तव में इन संस्थाओं द्वारा स्वीकृत निश्चय हुआ

बी, ३२० ए, ३१८ ए और २७७ ए। इन मुद्राओं के विवेचन के संबंध में देखो पृ० १२४ आदि।

* देखो हिंदू राज्यतंत्र, पहला भाग §§ ४६-५० पृ० ८१-८४; और § १२०; पृ० २०१-२०४।

करते थे। जो सदस्य उन नियमों या निश्चयों का भग करते थे, उनसे न्यायालय उन नियमों का बलपूर्वक पालन कराया करते थे। इन निश्चयों के द्वारा मुख्यतः उन सभाओं या समवायों के समस्त कार्यों का संचालन होता था। उन्हें "समय" कहा करते थे, अर्थात् वे ऐसे नियम या निश्चय थे जो सब लोगों के समूह में स्वीकृत हुआ करते थे (सम्+अय)। मनु और याज्ञवल्क्य में इन समयों को धर्म या कानून कहा गया है*।

---

* मनु, अ० ८, २१६ २२।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥
यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
....
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणम् ॥

—याज्ञवल्क्य संविद्-व्यतिक्रम प्रकरण, २, १८६।

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥

अन्यान्य धर्मशास्त्रों में दी हुई 'समय' की व्याख्या के लिये देखो पहला भाग § १२१, पृ० २०४।

हम यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट कर देना चाहते हैं कि अब तक मिले हुए समस्त धर्मशास्त्रों के लेखकों में से सबसे अधिक प्राचीन आपस्तंब ने भी यह माना है कि समस्त धर्मों का मूल "समय" है* ।

इन संस्थाओं के एक और प्रकार के निश्चय हुआ करते थे, जो स्थिति (शब्दार्थ—निश्चित, जो बदला न जा सके) या "देशस्थिति"† (शब्दार्थ—देश या देश की सभा की स्थिति) कहलाते थे और जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये कर्त्तव्य था। स्थिति में भी संभवत: उसी प्रकार के निश्चय या नियम आदि हुआ करते थे, जिन्हें संविद् कहते थे और जिसका अर्थ "करार" या "करार करके बनाए

---

* आपस्तंब १. १. १. अथातः सामयाचारिकान्धर्मान्व्याख्यास्यामः ॥ १

धर्मज्ञसमयः प्रमाणम् ॥ २

वेदाश्च ॥ ३

† वीरमित्रोदय पृ०, १२० ।

देशस्थित्यानुमानेन नैगमानुमतेन वा ।
क्रियते निर्णयस्तत्र व्यवहारस्तु बाध्यते ॥
—बृहस्पति ।

हुए नियम" होता है। ये संविद्* जानपद द्वारा स्वीकृत होते थे और संवित्पत्र पर लिखे जाते थे। कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार शपथ करके सदस्य लोग वे निश्चय करते थे। उनका पालन समस्त राज्य के लिये आवश्यक होता था। इस बात का एक स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि ये संविद् राजा के हित के विरोधी भी हुआ करते थे; क्योंकि कुछ धर्मशास्त्रकारों ने यह अपवाद भी कर रखा है कि न्यायालयों द्वारा केवल उन्हीं संविदों का पालन कराया जायगा, जो राजा के हित के विरुद्ध न होंगे†। "समय" भी एक विशिष्ट पत्र पर लिखे जाते थे‡।

ये समय (समय-क्रिया) और संविद् उसी प्रकार के निश्चय होते थे, जिन्हें आज-कल हम लोग कानून कहते हैं।

---

* ग्रामो देशश्च यत्कुर्य्यात्सत्यलेख्यं परस्परम्।
राजाऽविरोधिधर्मार्थं संवित्पत्रं वदन्ति तत्॥
—वीरमित्रोदय पृ० १८६ में बृहस्पति। धर्मार्थ—
"कानून और राजनीति संबंधी नियम।"

† देखो ऊपर की पाद-टिप्पणी; और साथ ही याज्ञवल्क्य का—"निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्।"

‡ यत्रैतल्लिखितं पत्रे धर्म्या सा समयक्रिया।
—वीरमित्रोदय, पृ० ४२५।

ये उस प्रकार के साधारण नियम नहीं होते थे, जिनका हिंदू धर्मशास्त्रों में समावेश है। वे शासन-कार्य के लिये बने हुए कानून होते थे, जिनका स्वरूप आर्थिक और राजनीतिक होता था।

§ २८६. यह भी ध्यान रखने योग्य महत्त्व की बात है कि संविद् वर्ग के नियमों का उल्लेख केवल जानपद और पौर के संबंध में ही आता है। व्यापारियों और व्यवसायियों के संघ और विजित गण (प्रजातंत्र) अथवा इस प्रकार की और संस्थाएँ संविद् नहीं बना सकती थीं। इससे सिद्ध होता है कि पौर-जानपद के सब प्रकार के निश्चयों में संविद् वर्ग के नियम सबसे अधिक महत्त्व के होते थे। संभवतः उन्हीं के द्वारा देश को कोई काम करने की सूचना दी जाती थी। अर्थात् उन्हीं के द्वारा लोगों से कहा जाता था कि अमुक नया कर दो अथवा अमुक कार्य करो।

§ २८७. ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका संक्षेप में आशय यह है कि हमारे यहाँ पौर-जानपद नाम का एक संघटन या द्वैध संघटन था जो राजा को राज्यच्युत कर सकता था, जो राजसिंहासन के लिये उत्तराधिकारी निर्वाचित करता था, जिसका राजवंश के जिस व्यक्ति के प्रति सद्भाव या प्रसन्नता होती थी, उसके राज्यारोहण के लिये अधिक अवसर मिल सकता था, जिसके प्रधान को राजा अपनी

मंत्रि-परिषद् द्वारा निश्चित राज्य की नीति सूचित किया करता था, जिससे राजा परम नम्रतापूर्वक नवीन कर लगाने की अनुमति माँगा करता था, जिसका किसी मंत्री पर विश्वास होना उसके प्रधान या महामंत्री बनने के लिये परम आवश्यक हुआ करता था, जिससे किसी नए धर्म का प्रचार करने की आकांक्षा रखनेवाले राजा का परम आदर-पूर्वक परामर्श करना आवश्यक हुआ करता था, जो देश के लिये कला-कौशल, व्यापार और अर्थ संबंधी अनुग्रह या रिआ-यतें माँगा और प्राप्त किया करता था, सार्वजनिक घोष-णाओं में जिसकी प्रशंसा और खुशामद की जाती थी, जिसके कोप से प्रांतीय शासकों का सर्वनाश हो जाता था और जो राजा के हित के विरुद्ध भी कानून बना सकता था। तात्पर्य यह कि वह एक ऐसा संघटन था जो राजा का शासन संभव या असंभव कर सकता था। राष्ट्र-संघटन-संबंधी इतने अधिकारों से युक्त यह एक ऐसी संस्था थी जिसे हम हिंदुओं की समस्त अधिकारों से युक्त पार्लिमेंट भी कहें तो कुछ अनुचित न होगा।

राजा के अधिकारों को सीमा का उल्लंघन करने से रोकने के लिये पौर-जानपद एक बलवान् साधन था। इसके साथ ही कुछ और प्रकार के भी प्रभाव थे जिनके कारण राजा अपना ठीक-ठीक उत्तरदायित्व समझता रहता था और उसके अनुसार कार्य करता था।

——

उन्तीसवाँ प्रकरण

विचारशीलों का और सार्वजनिक मत

§ २८८. पौर-जानपद के संघटन से तो राजा का अधिकार मर्यादित रहता ही था। इसके अतिरिक्त उसे मर्यादित रखने के लिये विचारशीलों और बुद्धिमानों का भी उस पर बहुत बड़ा प्रभाव होता था।

जो विचारशील त्यागी और विरक्त, तपस्वी और विद्वान् ब्राह्मण आदि समाज से बिलकुल अलग वनों में*

---

* अर्थशास्त्र २. २. (पृ० ४६) प्रदिष्टाभयस्थावरजंगमानि च ब्राह्मणेभ्यो ब्रह्मसोमारण्यानि तपोवनानि च, तपस्विभ्यो गोत्रपराणि प्रयच्छेत्।

तपोवनों के नाम सात मूल गोत्रों के नाम पर रखे गए थे। अपना घर-बार छोड़कर महात्मा बुद्ध इसी प्रकार के एक आश्रम में गए थे। रामायण में गोत्र-ऋषियों के नाम के जिन आश्रमों का उल्लेख है, वे भी

रहा करते थे, उनका भी हिंदू जीवन पर बहुत बड़ा राजनीतिक प्रभाव पड़ता था। वे तपोवन समस्त आर्य समाज के प्रतिनिधि हुआ करते थे। साथ ही वे तपोवन सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों के प्राचीन अनुभव के आगार या कोश हुआ करते थे और स्पष्ट तथा निष्पक्ष विचार के मुख्य स्थान समझे जाते थे। राजधानी या दूसरे छोटे-छोटे नगरों के बाहर पास ही कुछ विशिष्ट एकांत स्थान हुआ करते थे जिनमें लोग तीसरे या वानप्रस्थ आश्रम में पहुँचने पर जाकर रहते थे*। यद्यपि हिंदू त्यागी और विरक्त लोग घर-बार छोड़कर वनों में चले जाया करते थे, परंतु फिर भी वे समाज तथा राजनीतिक क्षेत्र से बिलकुल ही अलग नहीं हो जाते थे। अपनी बुद्धिमत्ता तथा निष्पक्षता के कारण वे लोग शासन की कठिनाइयाँ ठीक तरह से समझ सकते थे; और उसके संबंध में बिना कोई बात छिपाए या बिना किसी प्रकार के भय के राजा को उपयुक्त परामर्श दे सकते थे।

इसी प्रकार की संस्थाएँ थीं। उन नामों से यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि उस समय वे मूल गोत्र-ऋषि जीवित थे और वहाँ वर्तमान रहते थे।

* देखो पृ० २०८ की पाद-टिप्पणी।

इनके अतिरिक्त इनसे भी अधिक वृद्ध, बुद्धिमान् और चतुर्थ आश्रम में पहुँचे हुए लोग होते थे जो किसी भूल करनेवाले को अधिकारपूर्वक रोक सकते थे और जिन पर कोई सांसारिक शक्ति अपना अधिकार नहीं जतला सकती थी। वे जो कुछ कहते थे, वह नीति के नाम पर कहते थे और उनकी बातें सब लोगों को सुननी पड़ती थीं। उन्हें इस बात का अधिकार प्राप्त था कि किसी के बिना पूछे भी वे अपनी सम्मति प्रकट कर सकें। साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख भरे पड़े हैं जिनसे सूचित होता है कि हिंदुओं के ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों आदि का उनके समय की राजनीति पर कितना अधिक प्रभाव था। बहुत प्राचीन काल के पाली लेखों आदि से अब यह बात प्रमाणित हुई है कि भिक्षुओं का एक वर्ग था जो "नारद" कहलाता था। इसी वर्ग के एक नारद से कृष्ण को गण-राज्य संबंधी कठिनाइयों में समय समय पर सहायता और परामर्श मिला करता था। इसके उपरांत जब हम ऐतिहासिक काल में आते हैं, तब देखते हैं कि लिच्छवियों पर आक्रमण करने से पहले अजातशत्रु ने महात्मा बुद्ध से परामर्श लिया था। कोशल के विडूरभ ने एक बार केवल बुद्ध के मना करने पर ही शाक्यों के प्रति युद्ध की घोषणा करने का विचार छोड़ दिया था। सिकंदर ने भारत में आकर देखा था कि यहाँ के एकांतवासी साधु और

त्यागी* बहुत विकट राजनीतिज्ञ हैं। सिकंदर भी स्वतंत्र विचारों

---

* सिलाओ मैक्क्रिंडल कृत मेगास्थिनीज नामक ग्रंथ के पृ० १२४-२६।

"परमेश्वर, जो सबका स्वामी है, कभी कोई भूल या अनुचित काम नहीं करता। वह प्रकाश, शांति, जीवन, जल, मानव शरीर और आत्मा सबका स्रष्टा है; और जब मृत्यु इन सबको दुष्ट कामनाओं से मुक्त करके स्वतंत्र कर देती है, तब वह इन्हें ग्रहण करता है। मैं केवल उसी ईश्वर के आगे सिर झुकाता हूँ जो हत्याओं को निंदनीय समझता है और युद्धों की प्रेरणा नहीं करता। परंतु सिकंदर ईश्वर या देवता नहीं है; क्योंकि उसके लिये मृत्यु अवश्यं-भावी है। और फिर जो अभी तक टिबरोबोअस नदी के उस पार तक न पहुँचा हो और जो अब तक समस्त विश्व के साम्राज्य के सिंहासन पर न बैठा हो, वह समस्त संसार का स्वामी कैसे हो सकता है?......यदि उसके वर्तमान राज्यों से उसकी कामना पूर्ण न होती हो, तो उसे गंगा नदी के उस पार जाना चाहिए। यदि हमारी ओर का यह देश उसके आदमियों के लिये पर्याप्त न हो, तो वहाँ उसे ऐसा विस्तृत देश मिलेगा जो उसके आदमियों के लिये यथेष्ट होगा। समझ रखो कि सिकंदर मुझे जो कुछ देना चाहता

का बड़ा भारी शत्रु था; इसलिये ऐसे लोगों का अस्तित्व वह

है और जो कुछ मुझे देने का वचन देता है, वह सब मेरे लिये नितांत निरर्थक है।......जिस प्रकार माता अपने पुत्र को दूध पिलाती है, उसी प्रकार पृथ्वी मुझे सब कुछ देती है।......यदि सिकंदर मेरा सिर काट डाले, तो भी वह मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकता। केवल मेरा सिर चुप होकर पड़ा रहेगा, पर मेरी आत्मा अपने स्वामी के पास चली जायगी और इस शरीर को इसी पृथ्वी पर पुराने और फटे वस्त्र की भाँति छोड़ जायगी। उस समय मैं सूक्ष्म शरीर धारण करके ईश्वर के पास पहुँच जाऊँगा......वह समस्त अभिमानियों और पापियों का न्यायकर्त्ता है; क्योंकि पीड़ितों के मर्मभेदी, दुःखपूर्ण शब्द पीड़क के लिये दंड-स्वरूप हो जाते हैं। इसलिये सिकंदर से कहो कि इस प्रकार की धमकियों से वह उन्हीं लोगों को भयभीत करे, जिन्हें स्वर्ण और धन की कामना है और जो मृत्यु से डरते हैं; क्योंकि हम लोगों के लिये तो ये दोनों ही शस्त्र निरर्थक हैं। हम ब्रगमन (ब्राह्मण) लोग न तो स्वर्ण से प्रेम करते हैं और न मृत्यु से ही डरते हैं।"

इस पर यदि यूनानियों ने यह कहा कि—"वृद्ध और नग्न डंडमी (दंडी) ही ऐसे निकले जो अनेक राष्ट्रों पर विजय

सहज में सहन नहीं कर सकता था; और इसलिये उसने उनमें से कई त्यागियों का वध करा दिया था। एक बार ऐसे ही त्यागियों में से एक से पूछा गया था कि अमुक राष्ट्र के नेता से तुम सिकंदर का विरोध करने के लिये क्यों आग्रह करते हो? उसने उत्तर दिया था—"मैं यह चाहता हूँ कि या तो वह प्रतिष्ठापूर्वक जीवन व्यतीत करे और या प्रतिष्ठापूर्वक मर जाय" (प्लूटार्क ६४)। यूनानी लेखकों ने एक और ऐसे संन्यासी का उल्लेख किया है जिसने सिकंदर को राजनीति संबंधी एक बहुत अच्छी शिक्षा दी थी। उसने सिकंदर के साम्राज्य की तुलना सूखे चमड़े के टुकड़े से की थी और कहा था कि उसमें आकर्षण का कोई केंद्र नहीं है। जब तुम उसके एक सिरे

प्राप्त करनेवाले सिकंदर के घोर शत्रु थे और जिनके सामने वह किसी प्रकार नहीं ठहर सकता था।" तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

कदाचित् पाठकों को यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि उस संन्यासी ने उपनिषद् की ही सब बातें कही थीं। उसने कहा था कि ब्राह्मण वही होते हैं जो न तो स्वर्ग की कामना करते हैं और न मृत्यु से डरते हैं। उसका यह कथन हमारे आगे के कथन § २९०) के बिलकुल अनुरूप है।

पर खड़े होते हो, तब दूसरे सिरे के लोग विद्रोह करके उठ खड़े होते हैं। तक्षशिला में एक वृद्ध दंडी रहा करता था। जब ओनेसिक्रेटीस ने उससे कहा कि तुम संसार के सर्वश्रेष्ठ देवता जुस के पुत्र और समस्त संसार के स्वामी सिकंदर की सेवा में उपस्थित हो; और साथ ही उसे यह भी धमकी दी कि यदि तुम इनकार करोगे, तो सिकंदर तुम्हारा सिर कटवा डालेगा, तो वह दंडी खिल-खिलाकर हँस पड़ा और बोला कि जिस प्रकार सिकंदर जुस का पुत्र है, उसी प्रकार मैं भी जुस का पुत्र हूँ। मैं अपनी भारतभूमि से परम संतुष्ट हूँ जो माता के समान मेरा पालन करती है। साथ ही उसने व्यंग्यपूर्वक यह भी कहा था कि गंगातट के निवासी (नंद के सैनिक) इस संबंध में सिकंदर का संतोष कर देंगे कि वह अभी तक समस्त संसार का स्वामी नहीं हुआ है*। अर्थशास्त्र में राजा से कहा गया है कि दुष्ट शासन से वानप्रस्थ और परिव्राजक कुपित होते हैं†। महाभारत में जहाँ राजनीति का विवेचन है,

---

* देखो पृष्ठ २११ की पाद-टिप्पणी।

† अर्थशास्त्र १. ४. १. (पृ० ६)

दुष्प्रणीतः (दंडः) कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थ-परिव्राजकानपि कोपयति।

वहाँ राजा का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है कि वह राज्य के समस्त कार्यों की सूचना तपस्वियों को दिया करे और उन त्यागियों से परामर्श लिया करे जो अनुभवी और बहुश्रुत हैं, जिनका प्रतिष्ठित कुल में जन्म हुआ है और जो अब सब प्रकार के अर्थों का त्याग कर चुके हैं* ।

§ २८९. यह परंपरा समस्त हिंदू-इतिहास में चली आई थी । यह इतनी दृढ़ थी कि जब फिर से हिंदुओं का राज्य स्थापित हुआ, तब इसने फिर एक बहुत बड़ा कार्य कर दिखलाया ।

विद्वान् ब्राह्मण

गुरु रामदासजी शिवाजी के लिये उतने ही बड़े पथ-प्रदर्शक थे, जितने बड़े पथ-प्रदर्शक शिवाजी के प्राचीन पूर्वजों के लिये कोई नारद रहे होंगे ।

§ २९०. वानप्रस्थों और संन्यासियों के वर्ग में हमें वृत्तस्थ ब्राह्मणों को भी लेना चाहिए । जब तक कोई व्यक्ति पठन-

---

* महाभारत, (कुम्भकोणम् संस्करण) शान्तिपर्व, अ० ८६, श्लोक २६-२८ ।

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च ।
निवेदयेत्प्रयत्नेन तिष्ठेत्प्रह्वश्च सर्वदा ॥
....
सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा.................॥

पाठन, चिंतन और यजन करनेवाले ब्राह्मणों का सच्चा सामाजिक महत्त्व न समझे, तब तक उसे हिंदू इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान हो ही नहीं सकता। पीढ़ी दर पीढ़ी उनका ज्ञान-भांडार बराबर बढ़ता ही जाता था और उनका मानसिक बल चरम सीमा तक पहुँच गया था। यदि वे लोग सब प्रकार के स्वार्थों से रहित और दरिद्र न होते, तो बहुत संभव था कि वे समस्त हिंदू समाज को उदरस्थ कर लेते; और अंत में उनका उदर भी फूलकर फट जाता और स्वयं उनका भी नाश कर देता। वे लोग किसी ऐसे काम में हाथ ही न डालते थे जिससे धन का उपार्जन हो सकता था। उन्हें अपने निर्वाह के लिये बहुत ही अल्प मात्रा में जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी, वे वस्तुएँ वे उसी समाज से भिक्षा रूप में माँग लेते थे जिसकी सेवा का व्रत वे धारण करते थे। वे वास्तव में हिंदू समाज के स्वामी और नेता होते थे; और उनमें एक ऐसी विशेषता होती थी जो संसार के और किसी समाज के नेताओं में नहीं होती थी। वे सब के स्वामी भी रहते थे और साथ ही साथ परम दरिद्र भी रहते थे। दरिद्रता का व्रत धारण करके बुद्धि-बल के विचार से वे ऐसा अविनश्वर अस्तित्व प्राप्त करते थे जिसकी जड़ आत्मिक स्वतंत्रता तथा सद्गुणमूलक श्रेष्ठता के ज्ञान में होती थी। जिस जाति में उनका संवर्धन होता था, वह

जाति सदा निष्ठापूर्वक उनका साथ देती थी और ज्ञान तथा गुण के उन विशाल भांडारों का पालन पोषण करती थी।

समाज और राज्य के अंदर तथा पौर और जानपद के बाहर छोटी कुटी में रहकर यजन-क्रिया करनेवाले ब्राह्मणों को अपने समय की राजनीति की इतनी अधिक चिंता रहती थी, जितनी कदाचित् और किसी को न रहती होगी। जातकों में स्थान स्थान पर ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है जो धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों के ही समान रूप से पंडित हुआ करते थे। रामायण और महाभारत आदि के वशिष्ठ और वामदेव उन्हीं लोगों में से थे जो, जब चाहते थे, तब राज-दरबार में जा पहुँचते थे, राजा को परामर्श देते थे और उसे बतलाते थे कि तुम्हारे शासन में अमुक अमुक दोष हैं। वही लोग थे जो रामायण में पौर-जानपद के नेताओं को अपने साथ लेकर युवराज के अभिषेक के संबंध में राजा को राष्ट्र का निर्णय बतलाने के लिये गए थे; और राजा उन्हें तथा पौर-जानपदों को राजन् या शासक कहकर संबोधन करता था। बृहस्पति और कौटिल्य के वर्ग के लोग केवल राजनीति संबंधी सिद्धांतों का ही नियमन नहीं करते थे, बल्कि वे अपने देश की राजनीति से प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध भी रखते थे। कौटिल्य एक श्रोत्रिय या वैदिक ब्राह्मण

था* । पर जिस समय भारत में सिकंदर का आगमन हुआ और कौटिल्य ने नवोत्थित (नव) नंद की शासन-व्यवस्था में दोष देखे, तब वह वेदाध्ययन छोड़कर तुरंत राजनीतिक क्षेत्र में कूद पड़ा। उसने अपने समय की शासन व्यवस्था को आदि से अंत तक ठीक करके सुसंघटित करना आवश्यक समझा। वह दरिद्र स्वामी बार-बार यही कहता था कि राष्ट्र एक ऐसा जीवन है, जिस पर समस्त सामाजिक, व्यक्तिगत और आत्मिक सुख निर्भर करते हैं। ऐसे ही लोग जनता को बार बार इस बात का स्मरण कराते थे कि राष्ट्र की सभ्यता का आधार राजनीति है और जनता की रक्षा करनेवाली तलवार ही सभ्यता का गर्भाशय है† ।

---

* चाणक्य इति विख्यातः श्रोत्रियः सर्वधर्मवित् । तैलंग का मुद्रा-राक्षस, उपोद्घात, पृ० ४४ ।

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नंदराजगता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

—अर्थशास्त्र (पृ० ४२६) ।

† महाभारत (कुंभकोणम् संस्करण) शांतिपर्व, अ० १६४, श्लोक ६६-६६.

असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे ।
विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचि र्भार्गवाय तम् ॥

ब्राह्मणों ने इस आर्यावर्त्त को जिस प्रकार धार्मिक दृष्टि से आदर्श और पूज्य बनाया था, उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भी बनाया था* ।

§ २९१. संन्यासियों, तपस्वियों और वृत्तस्थ ब्राह्मणों की सुसंघटित संस्थाओं के अतिरिक्त शासनकर्त्ताओं को

सार्वजनिक मत

सर्वसाधारण की सम्मति या विचारों का भी पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता था । देश में एक वास्तविक सार्वजनिक मत होने का प्रमाण महाभारत, शांतिपर्व, अ० ८६, श्लोक १५-१६ में मिलता है† । उसका आशय इस प्रकार है—

महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च ।
महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक ॥
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम् ।
ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः ॥
असिना धर्म्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति ।

* उदाहरण के लिये मनु २. २२ की व्याख्या करते समय मेधातिथि की की हुई 'आर्यावर्त्त' की व्याख्या देखो ।

आर्या वर्त्तन्ते तत्र पुनः पुनरुद्भवन्त्याक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति.........इत्यादि ।

† अतीते दिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः ।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत् ॥

"राजा को उचित है कि वह अपने विश्वसनीय गुप्तचरों को समस्त राज्य में इस बात का पता लगाने के लिये भेजे कि प्रजा उसके गत या अतीत दिन के व्यवहार की प्रशंसा करती है या नहीं।

"वह इस बात का पता लगावे कि प्रजा उसके किस व्यवहार की प्रशंसा करती है और किस व्यवहार की नहीं करती; उसके कौन से काम देशवासियों को पसंद हैं और राष्ट्र में उसका कैसा यश है।"

देश में राजा की नीति और आचरण तथा व्यवहार आदि की आलोचना होती थी और राजा को उन आलोचनाओं से परिचित होने की चिंता रहती थी। राष्ट्रीय महाकाव्य रामायण में उस स्थान पर यह आदर्श कुछ उग्र परंतु प्रबल-रूप में दिखलाया गया है, जहाँ यह बतलाया गया है कि राम ने सीता का क्यों परित्याग किया था। 'यद्यपि स्वयं रामचंद्र यह बात बहुत भली भाँति जानते थे कि सीता बिलकुल निर्दोष है, तथापि लोगों के विचार देखकर ही उन्हें उसका परित्याग करना पड़ा था।

§ २६१क. बृहस्पति सूत्र में राजा के लिये कहा गया है कि यदि जनता किसी छोटे से छोटे काम के भी विरुद्ध हो,

---

जानीत यदि मे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद्रोचेज्जनपदे कच्चिद्राष्ट्रे च मे यशः ॥ (कुंभको०)

तो राजा को वह छोटा सा काम भी न करना चाहिए* । यदि जनता विरुद्ध हो तो राजा को धर्मयुक्त काम भी न करना चाहिए† ।

——

* बृहस्पति सूत्र, (एफ० डब्ल्यू० थामस वाला संस्करण) १. ६५ ।

जनघोषे सति क्षुद्रकर्म न कुर्यात् ।

† उक्त ग्रंथ, १. ४. ।

धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात् ।

तीसवाँ प्रकरण

मंत्रि-परिषद्

§ २६२. क्या हिंदू राजा एक व्यक्तिगत शासक हुआ करता था ? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिये हमें हिंदू मंत्रि-परिषद् की स्थिति की जाँच करनी चाहिए। राष्ट्र-संघटन में मत्रि-परिषद् का जो स्थान था, उसका ठीक-ठीक महत्त्व समझने के लिये उस परिषद् के पूर्व इतिहास के संबंध में कुछ बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। हिंदू मंत्रि-परिषद् वास्तव में एक ऐसी संस्था था जो प्राचीन वैदिक काल की राष्ट्रीय सभा से, उसकी शाखा के रूप में, निकली थी। जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं*, अथर्व वेद से सूचित होता है कि राजकर्त्ता लोग उस समूह का अंश होते थे, जो राजा को राजपद प्रदान करने के लिये उसके चारों

मूल

---

* देखो ऊपर § २०४।

और एकत्र होता था। आगे चलकर राजा बनानेवाले यही राजकृत् या राजकर्त्ता लोग रत्नी, उच्च पदाधिकारी, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि के रूप में प्रकट होते हैं, जिनका पूजन राजा अपने राज्याभिषेक से पहले करता था*। उन रत्नियों की पूजा करके वह मानों राज्य के उन अधिकारियों का भी सम्मान करता था और समाज के प्रतिनिधियों का भी। राज्यारोहण अथवा राजपद प्राप्त करने से पहले जिस प्रकार समाज के अन्यान्य प्रतिनिधियों की स्वीकृति माँगी जाती थी, उसी प्रकार उन रत्नियों की स्वीकृति भी माँगी जाती थी। इसका अभिप्राय यह है कि वे लोग राजा के बनाए हुए पदाधिकारी नहीं होते थे, बल्कि समाज के अंग के रूप में पदाधिकारी होते थे। उनकी सामूहिक संस्था का सूचक जो पारिभाषिक शब्द है, उससे उनके इस मूल का और भी समर्थन होता है।

§ २६३. अर्थशास्त्र† में मंत्रियों की सभा को परिषद् और जातकों‡, महावस्तु +, तथा अशोक के

---

* देखो ऊपर § २१२।

† अर्थशास्त्र १. १५।

‡ जातक, खंड ६, पृ० ४०५ और ४३१।

\+ महावस्तु खण्ड २, पृ० ४१६ और ४४२।

शिलालेखों* में उसे "परिसा" कहा गया है। इसी प्रकार का अर्थ देनेवाले जो और कई शब्द हैं, उनके साथ (बहुत बाद तक) इस नाम का मिश्रण नहीं होता; न उन शब्दों के लिये इसका व्यवहार होता है और न इसके लिये उन शब्दों का। इसके अतिरिक्त वैदिक हिंदुओं की राष्ट्रीय सभा का भी एक दूसरा नाम परिषद् था। जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है, बृहदारण्यक उपनिषद् में समिति को परिषद् कहा गया है†। मंत्रियों की परिषद् जब इस प्रकार समिति परिषद् से अलग हुई, तब उसे समिति परिषद् के समान ही नाम प्राप्त हुआ। नाम के साथ ही साथ उस परिषद् को पुरानी परंपरा और उत्तरदायित्व भी प्राप्त हुआ।

§ २६४. जिन दिनों हिंदू राजा बहुत बलवान् हो गए थे, उन दिनों भी परिषदों की वैदिक मर्यादा नष्ट नहीं हुई थी। आरंभिक राष्ट्र-संघटन में जिस प्रकार उनके सदस्य 'राजकृत्' और 'राजा' बने थे, उसी प्रकार पाली सूत्रों और राष्ट्रीय महाकाव्य में भी वे 'राजकृत्' और 'राजा' ही बने रहे। पाली धर्मग्रंथों में

---

* प्रधान शिलाभिलेख ३ और ६।

† देखो पहला खण्ड § ६, पृ० १६।

'राजकृत्' शब्द मंत्री के पर्याय के रूप में आया है*। जिन मंत्रियों ने भरत के सामने अपना प्रस्ताव रखा था, उन्हें भी रामायण में† राजकर्त्ता ही कहा गया है। प्रातिमोक्ष सूत्र में महामंत्रियों को राजा कहा गया है‡। अशोक अपने महामंत्रियों को (राज्य की) "बाग हाथ में रखनेवाले राजुक" अर्थात् 'शासक मंत्री' कहता है+।

---

* दीघनिकाय महागोविंद सुत्तन्त § ३२. राजकत्तारो।

† अयोध्या कांड अ० ७६ श्लोक १. समेत्य राजकर्त्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्। कुंभकोणम् संस्करण में उद्धृत टीका, राजकर्त्तारः = मन्त्रिणः।

‡ राजानो नाम पठव्या राजा पदेसराजा मण्डलिकराजा अंतरभोगिका अक्खदस्सा महामत्ता ये वा पन छेज्जभेज्जं अनुसासंति एते राजानो नाम। चाइल्ड्स द्वारा उद्धृत, पृ० ३६७।

+ प्रधान शिलाभिलेख ३ और स्तंभ शिलाभिलेख ४ में राजुक शब्द देखो, जिसमें राजुक मंत्रियों को शासन के पूर्ण अधिकार दिए गए हैं (दंड)। देखो J. B. O. R. S. खंड ४, पृ० ४१ में जायसवाल का लेख। साथ ही देखो ऊपर दूसरा खंड पृ० २८ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

§ २६५. हिंदू राष्ट्र-संघटन का यह एक निश्चित नियम और सिद्धांत है कि बिना मंत्रियों की परिषद् की स्वीकृति और सहयोग के राजा कोई काम नहीं कर सकता। इस संबंध में धर्म सूत्र, धर्मशास्त्र तथा राजनीति संबंधी सभी ग्रंथ एक-मत हैं।

परिषद् और राजा

स्वयं ही सब शासन कार्य करने का प्रयत्न करनेवाले राजा को मनु ने मूर्ख कहा है। वह ऐसे राजा को अयोग्य समझता है*। उसने यह विधान किया है कि राजा को अपने साथी या मंत्री अवश्य रखने चाहिएँ; और राज्य के साधारण तथा असाधारण कार्यों पर उन्हीं के मध्य में बैठकर और उन्हीं के साथ मिलकर विचार करना चाहिए†। समस्त राज्य के कामों का तो कहना ही क्या है, एक साधारण काम भी उसे अकेले नहीं करना चाहिए‡। याज्ञवल्क्य

---

* देखो ऊपर § २४५। मनु ७. ३०-३१।

† मनु ७. ५४-५७।

‡ मनु ७. ३०-३१ और ५५-५६।

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
दण्डः प्रणयितुं शक्तः सुसहायेन धीमता ॥३१॥

का भी यही मत है* और दूसरे धर्मशास्त्राधिकारी भी यही कहते हैं। कात्यायन तो यहाँ तक निर्देश करता है कि राजा को अकेले बैठकर किसी मुकदमे या अभियोग आदि का भी निर्णय नहीं करना चाहिए और अमात्यों तथा सभ्यों आदि के साथ बैठकर निर्णय करना चाहिए†। कौटिल्य भी, जो एकराज प्रणाली का सबसे बड़ा समर्थक है, कहता है कि राजा को मंत्रि-परिषद् में बैठकर ही राज्य संबंधी समस्त विषयों का विवेचन और निर्णय करना चाहिए; और बहुमत से जो कुछ निश्चित हो, उसी के अनुसार उसे काम करना चाहिए। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि मंत्रि-परिषद् से भिन्न मंत्रियों की और कोई सभा या मंडल

अपि यत्सुकरं कर्म्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥५५॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥

* याज्ञवल्क्य १. ३११।
तैः सार्धं चिंतयेद्राज्यं, आदि।

† वीरमित्रोदय पृ० १४.
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः।
ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः ॥

हो, तो भी इस नियम का पूर्ण रूप से पालन करने का विधान किया गया है। अर्थशास्त्र में कहा है—

"जब कोई असाधारण या विशेष विषय आकर उपस्थित हो, उस समय समस्त मंत्रियों और मंत्रि-परिषद् का आवाहन करना चाहिए और उन्हें उसकी सूचना देनी चाहिए। उस सभा में बहुमत द्वारा जो कुछ करना निश्चित हो, वही (राजा को) करना चाहिए*।"

एक महत्त्व की बात यह भी है कि राजा को मंत्रियों का निर्णय रद्द करने का भी कोई अधिकार नहीं दिया गया है। कौटिल्य ने परिषद् का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि केवल दो आँखें रहते हुए भी इंद्र को इसलिये सहस्राक्ष कहा जाता है कि उसकी मंत्रि-परिषद् के एक हजार बुद्धिमान् सदस्य थे जो उसके नेत्र समझे जाते थे†।

---

* अर्थशास्त्र १. १५. ११ (पृ० २९)

आत्यायिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदञ्चाहूय ब्रूयात्। तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्।

देखो इंडियन एंटीक्वेरी सन् १९१३, पृ० २८२ में जायसवाल का लेख।

† अर्थशास्त्र १. १५. ११ (पृ० २९)

इन्द्रस्य हि मन्त्रपरिषदृषीणां सहस्रं। तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः।

शुक्रनीतिसार में, जो मूल सिद्धांतों के संबंध में पूर्ण रूप से प्राचीन परंपरा का ही अनुसरण करता है, कहा है—

"राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही कुशल और नीति या व्यवहार में कितना ही दक्ष क्यों न हो, परंतु फिर भी उसे बिना मंत्रियों की सहायता के अकेले बैठकर राज्य के किसी विषय पर विचार न करना चाहिए। बुद्धिमान् राजा को सदा अपनी परिषद् के सदस्यों, अधिकारियों या विभाग-मंत्रियों, उनके सभापति (सभ्य § ३०६) और प्रजा (प्रकृति § ३०४) की सम्मति के अनुसार चलना चाहिए। उसे कभी स्वयं अपनी सम्मति के अनुसार नहीं चलना चाहिए। जब राजा अपनी परिषद् से स्वतंत्र हो जाता है, तब वह मानों स्वयं ही अपने नाश की कल्पना या योजना करता है। समय पाकर वह अपना राष्ट्र या राज्य और प्रकृति या प्रजा दोनों खो बैठता है*।

---

* शुक्रनीतिसार २. २-४।

सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं नैकोर्थं चिन्तयेत् क्वचित् ॥२॥
सभ्याधिकारिप्रकृति-सभासत्सुमते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥३॥

मनु (७. ५७) के अनुसार राजा को पहले सब मंत्रियों से अलग अलग परामर्श करना चाहिए और तब उन सब को एकत्र करके परामर्श करना चाहिए; अर्थात् जैसा कि मेधातिथि ने उसकी व्याख्या करते हुए बतलाया है, परिषद् में बैठकर उनसे परामर्श करना चाहिए। ठीक यही बात और प्रायः शब्दशः कौटिल्य ने भी कही है*। इस प्रकार परामर्श और विवेचन करके ही राजा लाभ उठा सकता था। कहा गया है कि राजा को अपने सबसे अधिक बुद्धिमान् मंत्री पर, जिसका ब्राह्मण होना आवश्यक है, पूर्ण रूप से निर्भर रहना चाहिए और समस्त निश्चयों को कार्य-रूप में परिणत करने का भार उसी पर छोड़ देना चाहिए†। तात्पर्य यह कि इस प्रकार समस्त कार्य प्रधान मंत्री के हाथ में सौंप दिए जाते थे।

प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च ॥ ४॥

* तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च। अर्थशास्त्र, पृ० ८।
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः।—मनु, ७. ५७।

† मनु ७. ५८-५९।

बृहस्पति-सूत्र में कहा है कि जो कार्य पूर्ण रूप से धर्म-सम्मत हो, वह भी बुद्धिमानों से सम्मति लेकर ही करना चाहिए* । इसका अभिप्राय यह है कि शासन संबंधी जो कार्य बिलकुल नियमानुमोदित और धर्मसंगत हो, वह भी अनुभवी मंत्रियों की सम्मति और स्वीकृति से होना चाहिए।

§ २६६. इस अवसर पर हमें विधान संबंधी एक और महत्त्वपूर्ण धर्म या कानून का भी ध्यान रखना चाहिए।

राजा का वित्तदान और मंत्रि-परिषद्

धर्मशास्त्रियों ने यह निर्देश कर रखा था कि यदि मंत्री लोग विरोध करें, तो राजा को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी को वित्त-दान कर सके। यहाँ तक कि वह ब्राह्मणों को भी इस प्रकार का दान नहीं दे सकता था। यह नियम आपस्तंब के प्राचीन काल का था† । (प्रायः ई० पू० ४००)

---

* धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात् । करोति चेदाशास्यैनं बुद्धिमद्भिः । बृहस्पति सूत्र १. ४-५ ।

† आपस्तम्ब २. १०. २६. १. भृत्यानामनुपरोधेन क्षेत्रं वित्तञ्च दददब्राह्मणेभ्यो यथार्हमनन्तांल्लोकानभिजयति ।

मंत्री के अर्थ में "भृत्य" शब्द के प्रयोग के लिये देखो अर्थशास्त्र पृ० ३२० मंत्रिपुरोहितादिभृत्यवर्गम् । साथ ही देखो पृ० २३२ में दिव्यावदान वाला उल्लेख।

हिंदू मंत्रि-परिषद् का यह आरंभिक इतिहास और विधान संबंधी इन नियमों को देखते हुए हम समझ सकते हैं कि सम्राट् अशोक के आज्ञा देने पर भी मंत्रि-परिषद् और प्रधान मंत्री राधागुप्त ने बौद्ध भिक्षुओं को और अधिक वित्त दान देना क्यों और किस प्रकार अस्वीकृत कर दिया था*। यदि हमें मंत्रि-परिषद् के इन अधिकारों का पता

---

* दिव्यावदान पृ० ४३० और आगे। दिव्यावदान में अशोक के पहले वित्तदान का जो विस्तृत उल्लेख है, उसे मैं तत्त्वतः ठीक समझता हूँ; क्योंकि वह विश्वजित सर्वमेध की दक्षिणा के रूप में था और अशोक सार्वभौम सम्राट् था; और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार (§ २०६) इस प्रकार का दान करना उसका कर्त्तव्य था। जैसा कि मीमांसा में कहा है, (देखो § ३४५) सम्राट् अपनी भूमि अथवा राष्ट्र को छोड़कर बाकी और सब कुछ दे दिया करता था। अर्थात् उसके कोष में व्यय से बचा हुआ और जितना धन होता था, वह सब दान दे दिया करता था। इस प्रकार के किसी विशिष्ट दान का मंत्री लोग विरोध नहीं करते थे, क्योंकि ऐसा दान करने का सम्राट् को अधिकार था। परंतु यदि वह फिर इसी प्रकार कोई और दान करना चाहता था, तो मंत्री लोग उसका विरोध करते थे;

न होता तो हम यही कहकर छुट्टी पा जाते कि ये सब बातें पौराणिक और बौद्धों की कपोल-कल्पना हैं।

अशोक ने अपने प्रधान शिलाभिलेखों की छठी धारा में कहा है कि यदि मैं किसी दान या घोषणा के संबंध में कोई आज्ञा दूँ और मंत्रि-परिषद् में उसके संबंध में किसी प्रकार का विवाद उपस्थित हो, तो मुझे उसकी सूचना तुरंत मिलनी चाहिए। यदि परिषद् में मेरे प्रस्ताव के संबंध में मतभेद हो अथवा वह प्रस्ताव बिलकुल अस्वीकृत हो, तो उसकी मुझे तुरंत सूचना मिलनी चाहिए*। इससे यह सूचित होता है कि मंत्री लोग समय समय पर सम्राट की आज्ञा का भी विरोध करते थे।

§ २९७. इसी प्रकार जब रुद्रदामन् ने सुदर्शन ताल की मरम्मत की आज्ञा दी थी, तब उसके मंत्रियों ने भी उसका विरोध किया था। सुदर्शन ताल की मरम्मत के संबंध में मंत्री लोग राजा के प्रस्ताव के विरोधी थे। उन लोगों ने उसके लिये धन देना अस्वीकृत कर दिया था, जिस पर

और ऐसा ही करना अशोक के मंत्रियों ने भी अपना कर्त्तव्य समझा था।

* इंडियन एन्टीक्वेरी, १९१३, पृ० २४२।

राजा को उसका सारा व्यय अपने पास से देना पड़ा था*। सौभाग्यवश भारतीय इतिहास के लिये रुद्रदामन् का शिलालेख बहुत ही स्पष्ट है। इससे प्रमाणित होता है कि हमारे यहाँ के राष्ट्र-संघटन संबंधी नियम निर्जीव और शुभ भावना के ही रूप में नहीं थे; बल्कि वे उसी प्रकार सजीव और वास्तविक थे, जिस प्रकार पौरों आदि के संबंध के नियम और कानून थे। हमें इस संबंध में बौद्ध ग्रंथों का उपकृत होना चाहिए जिन्होंने अशोक के शासन के संबंध की राष्ट्र-संघटन संबंधी इस महत्त्वपूर्ण घटना को इस दुःखद और करुणापूर्ण रूप में रक्षित रखा है कि समस्त भारत का सम्राट् अपने मंत्रियों के द्वारा अपने राज्याधिकार से वंचित कर दिया गया था†। दिव्यावदान में जो गाथा उद्धृत है, वह उसके

* देखो ऊपर § २७० और Epigraphia Indica ८. ४४. (शिलालेख की पंक्तियाँ १६-१७.)

† दिव्यावदान पृ० ४३०. कुक्कुटाराम को अशोक जो दान देना चाहता था, उसे पूरा करने के लिये उत्सुक होकर उसने कहा था—"राधागुप्त, मैं अपने द्रव्य या राज्य या अधिकार के नाश की परवा नहीं करता।"

राजाह। राधगुप्त, नाहं द्रव्यविनाशं न राज्यनाशनं न चाश्रयवियोगं शोचामि।

... ...

रचना-काल से बहुत पहले की है और वह गाथा उस

तस्मिंश्च समये कुनालस्य सम्पदिनामपुत्रो युवराज्ये प्रवर्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्। कुमार, अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुर्कुटारामं प्रेष्यते, कोशबलिनश्च सजानो, निवारयितव्यः। यावत् कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः।

उस समय कुणाल का पुत्र सम्पदि युवराज-पद पर अवस्थित था। अमात्यों ने उससे कहा था—'कुमार, महाराज अशोक का अवस्थान तो थोड़े ही समय तक रहेगा, पर वे अपना धन 'कुकुटाराम में भेज रहे हैं। राजा का बल कोष ही है। उन्हें इससे निवारण करना चाहिए।' इस पर कुमार ने भांडागारिक को प्रतिषेध कर दिया।

(देखो आगे § ३१२ जिसमें यह बतलाया गया है कि युवराज ही प्रधान अमात्य हुआ करता था और मंत्रि-परिषद् के दूसरे मंत्री सब प्रस्ताव उसके पास भेजा करते थे।)

... ...

अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च सन्निपात्य कथयति। कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायासनाद् येन राजाशोकस्तेनाञ्जलिं प्रणम्योवाच।

घटना के कई शताब्दियों के बाद नहीं बन सकती थी। फिर

(पृ० ४३१) देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाशोकः साश्रुदुर्दिननयन-वदनोऽमात्यानुवाच—

दाक्षिण्यादनृतं हि किं कथयथ भ्रष्टाधिराज्या वयम्।

उद्विग्न राजा अशोक ने अमात्यों और पौरों को बुलाया और उनसे पूछा—'इस समय देश का स्वामी कौन है?' प्रधान अमात्य ने उठकर और राजा अशोक के पास पहुँचकर हाथ जोड़र प्रणाम करते हुए कहा—'देव (श्रीमान्) ही इस समय पृथ्वी के स्वामी हैं।' इस पर राजा अशोक ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से मंत्रियों से कहा—'केवल शिष्टाचार के विचार से मिथ्या बात क्यों कह रहे हो! हम तो राज्याधिकार से भ्रष्ट हो चुके हैं।'

... ...

त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ अशोको मौर्यकुञ्जरः।
जम्बुद्वीपेश्वरोभूत्वा जातोर्द्धामलकेश्वरः॥

भृत्यैः सभूमिपतिरद्य हृताधिकारो दानं प्रयच्छति किलामलकार्धमेतत्।

त्यागशूर और मौर्यकुंजर अशोक, जो जंबूद्वीप का अधीश्वर था, अब आधे आमलक का अधीश्वर रह गया। मंत्रियों के द्वारा अधिकार अपहृत हो जाने पर अब वह राजा आधा आमलक ही दान देता है।

भिक्षु लोग किसी ऐसी कहानी की भी कल्पना नहीं कर सकते थे जो उनके धार्मिक इतिहास के एक महान् व्यक्ति पर किसी प्रकार का लांछन लगानेवाली हो। वे किसी ऐसी कहानी की भी कल्पना नहीं कर सकते थे जो परवर्त्ती ऐसे राजाओं के लिये नजीर बन जाती, जो मौर्य सम्राट् का अनुकरण करके इस प्रकार का कोई बड़ा दान करना चाहते।

मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या

§ २६८. मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों की संख्या सदा एक सी नहीं रहती थी, वह बराबर घटती-बढ़ती रहती थी। बृहस्पति ने अपने राजनीति संबंधी ग्रंथ में, जिसका उद्धरण कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दिया है, कहा है कि मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या सोलह होनी चाहिए। मानव अर्थशास्त्र में कहा है कि मंत्रि-परिषद् में बारह मंत्री होने चाहिएँ। (मंत्रि-परिषदं द्वादशामात्यां* कुर्वीतेति मानवाः।) एक दूसरे प्राचीन आचार्य उशनस् ने अपने समय में बीस मंत्री बतलाए हैं; परंतु कौटिल्य ने कोई

---

* कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र १. १५. ११. (पृ० २६) अर्थशास्त्र में अमात्यन् छपा है, पर वह अमात्यम् होना चाहिए। वह 'मंत्रि-परिषद्' का विशेषण है।

(१) सुमंत्र या अर्थ-मंत्री ।
(२) पंडितामात्य या धर्मशास्त्र का ज्ञाता मंत्री ।
(३) मंत्री या गृह-विभाग का मंत्री ।
(४) प्रधान या मंत्रि-परिषद् का सभापति ।
(५) सचिव या युद्ध-मंत्री ।
(६) अमात्य या भूकर और कृषि विभाग का मंत्री ।
(७) प्राड्विवाक या न्याय विभाग का मंत्री और प्रधान न्यायाधीश ।
(८) प्रतिनिधि—इसके संबंध में आगे विवेचन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त कुछ और आचार्यों के अनुसार नीचे लिखे दो और मंत्री भी होते थे ।

(९) पुरोहित या धार्मिक कृत्यों का मंत्री ।
(१०) दूत या राजनीतिक विभाग का मंत्री* ।

---

* शुक्रनीतिसार २–८४-८७ ।
सर्वदर्शी प्रधानस्तु सेनावित् सचिवस्तथा ॥
मंत्री तु नीतिकुशलः पण्डितो धर्मतत्त्ववित् ।
लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥
देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते ।
आयव्ययप्रविज्ञाता सुमन्त्रः स च कीर्त्तितः ॥

निश्चित संख्या नहीं बतलाई है*। इससे और पहले की मंत्रि-परिषदें और भी बड़ी हुआ करती थीं। महाभारत में बत्तीस मंत्रियों की एक परिषद् का उल्लेख है (§ ३२१)। पर आगे चलकर सदस्यों की संख्या घटाने की ओर ही प्रवृत्ति रही।

§ २६६. हम फिर मंत्रि-परिषद् और मंत्रियों की सामूहिक शक्ति का विचार करते हैं। अब हम भिन्न भिन्न मंत्रियों के पदों के नाम बतलाते हैं। मनु (७. ५४) में कहा है कि मंत्रि-परिषद् में मंत्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए। जिस समय शुक्रनीति लिखी गई थी, उस समय आठ की संख्या प्रायः निश्चित सी हो गई थी; और उसी के अनुसार शिवाजी ने अष्ट-प्रधान या आठ मंत्री बनाए थे। कुछ आचार्यों के अनुसार शुक्रनीति में बतलाए हुए आठ मंत्री इस प्रकार हैं†—

---

* उक्त ग्रन्थ और प्रकरण आदि।

† शुक्रनीति २. ७१-७२.

अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित्स्मृतः सदा।
सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा॥
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः।

(१) सुमंत्र या अर्थ-मंत्री ।
(२) पंडितामात्य या धर्मशास्त्र का ज्ञाता मंत्री ।
(३) मंत्री या गृह-विभाग का मंत्री ।
(४) प्रधान या मंत्रि-परिषद् का सभापति ।
(५) सचिव या युद्ध-मंत्री ।
(६) अमात्य या भूकर और कृषि विभाग का मंत्री ।
(७) प्राड्विवाक या न्याय विभाग का मंत्री और प्रधान न्यायाधीश ।

(८) प्रतिनिधि—इसके संबंध में आगे विवेचन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त कुछ और आचार्यों के अनुसार नीचे लिखे दो और मंत्री भी होते थे ।

(९) पुरोहित या धार्मिक कृत्यों का मंत्री ।
(१०) दूत या राजनीतिक विभाग का मंत्री* ।

---

* शुक्रनीतिसार २–८४-८७ ।
सर्वदर्शी प्रधानस्तु सेनावित् सचिवस्तथा ॥
मंत्री तु नीतिकुशलः पण्डितो धर्मतत्त्ववित् ।
लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥
देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते ।
आयव्ययप्रविज्ञाता सुमन्त्रः स च कीर्त्तितः ॥

[इन दोनों को भी मंत्रि-परिषद् में बैठने का स्थान मिलता था।]

इङ्गिताकारचेष्टाज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित्।
षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥
अहितञ्चापि यत्कार्यं सद्यः कर्त्तुं यदोचितम्।
अकर्त्तुं यद्धितमपि राज्ञः प्रतिनिधिः सदा।
बोधयेत्कारयेत्कुर्य्यान्न कुर्य्यान्न प्रबोधयेत् ॥
सत्यं वा यदि वासत्यं कार्यजातञ्च यत्किल।
सर्वेषां राजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिन्तयेत् ॥
इत्यादि श्लोक १०६ तक।

मिलाओ शिवाजी के अष्ट-प्रधान। जिलों की नागरिक व्यवस्था वास्तव में केंद्रस्थ अधिकारियों की अधीनता में हुआ करती थी, जिनमें से दो अधिकारी पंत अमात्य और पंत सचिव होते थे। ये दोनों क्रमशः वही अधिकारी होते थे जिन्हें आजकल अर्थमंत्री और लेखा विभाग के प्रधान अधिकारी या आय-व्यय के निरीक्षक कहते हैं। जिलों का सब हिसाब किताब इन्हीं अधिकारियों के पास भेजा जाता था। वहाँ सब हिसाब एक में मिलाए जाते थे और उनकी भूलें आदि जाँची जाती थीं और भूल करनेवालों को दंड दिया जाता था। ये

प्रतिनिधि का ठीक-ठीक स्वरूप अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। जान पड़ता है कि उसका पद बहुत महत्त्व का होता था; क्योंकि उसे प्रधान और मंत्री से पहले स्थान दिया गया है। जो काम करना अत्यंत आवश्यक होता था, वह चाहे राजा को प्रिय हो और चाहे अप्रिय हो, उसे करने के लिये राजा को विवश करना उसका काम होता था। यह निश्चित है कि वह राजा का प्रतिनिधि नहीं होता था। संभव है कि वह पौर-जानपद के प्रतिनिधि के

अधिकारी अपने यहाँ के आदमियों को जिले के अधिकारियों के कामों की जाँच करने के लिये भेज सकते थे। नागरिक विभाग के सबसे बड़े अधिकारी पेशवा होते थे; और पंत सचिव तथा पंत अमात्य के पद उनके उपरांत हुआ करते थे। माल के महकमे के कामों के सिवा इनके अधिकार में सेनाएँ भी रहती थीं। ये दोनों शासन-सभा के मुख्य सदस्य होते थे और वह शासन सभा "अष्ट-प्रधान" कहलाती थी। राजा के उपरांत पेशवा या प्रधान मंत्री का पद हुआ करता था। पेशवा नागरिक तथा सैनिक दोनों विभागों का प्रधान होता था और राजसिंहासन के नीचे दाहिनी ओर सबसे पहले उसी का आसन रहता था। सेनापति सैनिक विभाग का

[इन दोनों को भी मंत्रि-परिषद् में बैठने का स्थान मिलता था।]

इङ्गिताकारचेष्टाज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित्।
षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते॥
अहितञ्चापि यत्कार्यं सद्यः कर्त्तुं यदोचितम्।
अकर्त्तुं यद्धितमपि राज्ञः प्रतिनिधिः सदा।
बोधयेत्कारयेत्कुर्य्यान्न कुर्य्यान्न प्रबोधयेत्॥
सत्यं वा यदि वासत्यं कार्यजातञ्च यत्किल।
सर्वेषां राजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिन्तयेत्॥

इत्यादि श्लोक १०६ तक।

मिलाओ शिवाजी के अष्ट-प्रधान। जिलों की नागरिक व्यवस्था वास्तव में केंद्रस्थ अधिकारियों की अधीनता में हुआ करती थी, जिनमें से दो अधिकारी पंत अमात्य और पंत सचिव होते थे। ये दोनों क्रमशः वही अधिकारी होते थे जिन्हें आजकल अर्थमंत्री और लेखा विभाग के प्रधान अधिकारी या आय-व्यय के निरीक्षक कहते हैं। जिलों का सब हिसाब किताब इन्हीं अधिकारियों के पास भेजा जाता था। वहाँ सब हिसाब एक में मिलाए जाते थे और उनकी भूलें आदि जाँची जाती थीं और भूल करनेवालों को दंड दिया जाता था। ये

प्रतिनिधि का ठीक-ठीक स्वरूप अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। जान पड़ता है कि उसका पद बहुत महत्त्व का होता था; क्योंकि उसे प्रधान और मंत्री से पहले स्थान दिया गया है। जो काम करना अत्यंत आवश्यक होता था, वह चाहे राजा को प्रिय हो और चाहे अप्रिय हो, उसे करने के लिये राजा को विवश करना उसका काम होता था। यह निश्चित है कि वह राजा का प्रतिनिधि नहीं होता था। संभव है कि वह पौर-जानपद के प्रतिनिधि के

अधिकारी अपने यहाँ के आदमियों को जिले के अधिकारियों के कामों की जाँच करने के लिये भेज सकते थे। नागरिक विभाग के सबसे बड़े अधिकारी पेशवा होते थे; और पंत सचिव तथा पंत अमात्य के पद उनके उपरांत हुआ करते थे। माल के महकमे के कामों के सिवा इनके अधिकार में सेनाएँ भी रहती थीं। ये दोनों शासन-सभा के मुख्य सदस्य होते थे और वह शासन सभा "अष्ट-प्रधान" कहलाती थी। राजा के उपरांत पेशवा या प्रधान मंत्री का पद हुआ करता था। पेशवा नागरिक तथा सैनिक दोनों विभागों का प्रधान होता था और राजसिंहासन के नीचे दाहिनी ओर सबसे पहले उसी का आसन रहता था। सेनापति सैनिक विभाग का

रूप में मंत्रि-परिषद् में आकर बैठता हो; अथवा राजा के पास आने-जाने के लिये वह मंत्रि-परिषद् का प्रतिनिधि हो। इसमें संदेह नहीं कि उसका पद बहुत अधिक, और कदाचित् सबसे अधिक, महत्त्व का होता था।

युवराज, राजकुमार और अमात्य

§ ३००. युवराज को मंत्रि-परिषद् के सदस्यों में नहीं गिनाया गया है; परंतु यह निश्चित है कि वह भी एक मंत्री होता था। वह साधारणतः राजवंश का ही राजकुमार होता था और राजा का चाचा, भाई, भतीजा, पुत्र, दत्तक पुत्र

प्रधान अधिकारी होता था और सिंहासन के बाएँ ओर सबसे पहले उसका आसन रहता था। पेशवा के उपरांत अमात्य और सचिव बैठते थे और सचिव के बाद मंत्री का आसन होता था जिसके अधिकार में महाराज के निजी और व्यक्तिगत सब काम होते थे। सुमंत पर-राष्ट्र विभाग का मंत्री हुआ करता था और बाएँ ओर सेनापति के नीचे बैठता था। इसके उपरांत पंडित राव का स्थान था जो धार्मिक विषयों का अधिकारी होता था और उसके नीचे बाईं ओर न्यायाधीश बैठता था।—रानडे कृत Rise of Maratha Power. पृ० १२५-६.

अथवा पौत्र हुआ करता था* । अन्यान्य मंत्रियों की भाँति वह भी राजा का सहायक होता था। युवराज की मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था जिसका व्यवहार वह हस्ताक्षर करते समय करता था। दिव्यावदान के अनुसार† अशोक के शासन-काल में उसका पौत्र सम्प्रति युवराज था और कुणाल तक्षशिला का प्रांतीय प्रधान शासक था। यह तक्षशिला उत्तरी प्रांत की राजधानी थी।

जब राजवंश का कोई राजकुमार किसी पद पर नियुक्त रहता था, तब वह पदाधिकारी ही समझा जाता था। भट्ट भास्कर ने उसे कुमार अध्यक्ष कहा है; अर्थात् किसी विभाग का प्रधान अधिकारी राजकुमार जिसके हाथ में शासनाधिकार हो‡। अशोक के शिलालेखों में प्रांतीय

---

* शुक्रनीतिसार २. १५।

स्वकनिष्ठं पितृव्यं वानुजं वाग्रजसम्भवम्।
पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्येऽभिषेचयेत्॥
क्रमादभावे दौहित्रं स्वप्रियं वा नियोजयेत्।

† दिव्यावदान पृ० ४३०। देखो ऊपर इसी खंड के पृ० २३४ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

‡ देखो ऊपर इसी खंड के पृ० २८ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

सरकारों के नाम जो खरीते आदि हैं, वे कुमार और महामात्रों को संबोधित करके लिखे गए हैं। महामात्रों का समूह "वर्ग" कहलाता था*। जान पड़ता है कि ऐसे ही कुमार को भट्ट भास्कर ने हाथ में बाग रखकर (रज्जुभिः) नियंत्रण करनेवाला (नियंता) कहा है। बौद्ध ग्रंथों में† अशोक को एक स्थान पर तक्षशिला का शासक और दूसरे स्थान पर उज्जैन (पश्चिमी प्रांत की राजधानी) का शासक कहा है। मौर्य राजवंश के राजकुमार दक्षिण में अपने वर्गों या काउन्सिलों के साथ शासन करते थे‡ और कलिंग का विजित प्रांत केवल महामात्रों के वर्ग के अधीन था। यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि केंद्रस्थ सरकार से भेजे जानेवाले खरीते, जिनकी प्रतिलिपियाँ शिलालेखों में हैं, कभी कुमार के नाम से संबोधित नहीं हैं। जैसा कि अशोक के दो स्थानों के शासक होने से सूचित होता है, राजकुमार भी महामात्रों की भाँति, जिनके संबंध में

---

* देखो J. B. O. R. S. ४. पृ० ३६. में उड़ीसा के "पृथक् प्रज्ञापन"।

† दिव्यावदान पृ० ३७२; महावंश ५. ४६।

‡ देखो जौगड़ और धौली के "पृथक्" प्रधान शिलाभिलेख और सिद्धपुर का शिलालेख।

हम अभी विवेचन करेंगे, कदाचित् एक स्थान से दूसरे स्थान को बदले जाते थे। ऐसी दशा में खरीतों आदि का किसी व्यक्ति-विशेष के नाम न होना बिलकुल ठीक ही है।

§ ३०१. भिन्न भिन्न विभागों के मंत्रियों के पद-नाम समय समय पर बदलते रहे हैं। मानव धर्मशास्त्र* में सचिव शब्द का व्यवहार किया गया है, जिसका शब्दार्थ होता है---सहायक या साथी, और अर्थशास्त्र में मंत्री के लिये साधारणतः अमात्य शब्द आया है (जिसका शब्दार्थ है—एक साथ रहनेवाले)। रामायण में भी साधारणतः अमात्य शब्द का ही व्यवहार हुआ है; परंतु सचिव लोग मंत्रियों से भिन्न बतलाए गए हैं†।

मंत्रियों के पद-नाम

प्रधान मंत्री को "मंत्री" कहा गया है जिसका शब्दार्थ है मंत्रणा या परामर्श देनेवाला। अर्थशास्त्र में सर्व-प्रधान मंत्री को मंत्री ही कहा गया है। अर्थशास्त्र में

---

* मनु ७. ५४।

† युद्ध कांड, १३०. १७-२०. (कुंभकोणम्) गोविंदराज।

इस मंत्री के उपरांत पुरोहित आता है; और उसके उपरांत सेनापति और तब युवराज आता है* ।

मानव धर्मशास्त्र में प्रधान मंत्री को केवल "अमात्य" कहा गया है। शासन या दंड का समस्त अधिकार उसी के हाथ में रहता था† । मानव (७.५८ और १२. १००) में विशेष रूप से यह कहा गया है कि अमात्य सदा ब्राह्मण होना चाहिए। आरंभिक समय में पाली धर्मग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु का प्रधान मंत्री अग्र-महामात्र या सर्व-प्रधान मंत्री कहा गया है। दिव्यावदान में अशोक का प्रधान मंत्री (राधागुप्त) अमात्य कहा गया है। शुक्रनीति में उसी को मंत्री कहा है। गुप्त-काल में संभवतः उसी को महादंडनायक कहते थे (देखो § ३२२)।

मानव धर्मशास्त्र में पुरोहित का विशेष रूप से कोई उल्लेख नहीं है। पर संभवतः वह मनु के सात या आठ मंत्रियों के अंतर्गत ही है। इस मंत्री का भी सब जगह वही पद-नाम (पुरोहित या पुरोधस् या नेता) आया है; परंतु उसका कार्य तथा अधिकार-क्षेत्र बराबर बढ़ता हुआ

---

* अर्थशास्त्र ५. २. ६१. (पृ० २४५)

† मनु ७. ६५।

ही जान पड़ता है। जातकों और धर्मसूत्रों में* कहा गया है कि उसे धर्म और राजनीति दोनों का अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। आपस्तंब में† कहा गया है कि जिन अपराधों में प्रायश्चित्त का विधान होता है. उनका निर्णय उसी को करना चाहिए। ब्राह्मणों के अभियोगों का विचार भी राजा की ओर से वही करता था। अर्थशास्त्र‡ कहता है कि उसे वेदों और वेदांगों का अच्छा ज्ञाता होना चाहिए और अथर्व वेद के धर्मकृत्यों का भी उसे ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि जब राष्ट्र पर कोई भारी दैवी विपत्ति आती थी, तब सर्व साधारण को संतुष्ट करने के लिये वे कृत्य भी किए जाते थे। शुक्रनीति में+ कहा है कि पुरोहित को युद्ध-विद्या का भी ज्ञान होना चाहिए।

---

* जातक, खंड १, पृ० ४३७ और खंड २, पृ० ३० ; आपस्तंब धर्मसूत्र २. ५. १० और १३-१४।

† आपस्तंब धर्मसूत्र २. ५. १० और १३-१४ आदि।

‡ अर्थशास्त्र १. ८. ५. (पृ० १५)

+ शुक्रनीतिसार २. ८०—नीतिशास्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः।

मानव धर्मशास्त्र में राष्ट्रों से संबंध निश्चित करनेवाले कूटनीतिज्ञ मंत्री को "दूत"* कहा गया है। अन्य राष्ट्रों के साथ संधि और विग्रह आदि वही निश्चित करता था और आवश्यकता पड़ने पर उनसे संबंध-विच्छेद करता था। रामायण (२. १००. ३५) और शुक्रनीति में भी उसका यही नाम मिलता है। पर आगे चलकर गुप्त-काल के शिलालेखों, बृहस्पति के धर्मशास्त्र तथा अन्यान्य स्थानों में उसे "संधि-विग्रहिक" कहा गया है। यह एक विलक्षण बात है कि अर्थशास्त्र में इस मंत्री का उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः यह काम प्रधान मंत्री के ही हाथ में रहता होगा। मौर्य-काल में यह पद बहुत ही महत्त्व का था।

मानव धर्मशास्त्र में कहा गया है कि राजा अपने राजकोष के सब काम अपने ही हाथ में रखता है, अर्थात् अर्थमंत्री के सब काम वह स्वयं ही करता है†। मानव-धर्मशास्त्र में इस संबंध में प्रत्यक्ष रूप से राजा का कोई उल्लेख नहीं है; परंतु इस विभाग के उसके अधीनस्थ कर्मचारी उसी "समाहर्त्ता" नाम से उल्लिखित है, जो

* मनु ७. ६५-६६—दूते सन्धिविपर्ययो। दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।

† उक्त ग्रंथ—नृपतौ कोषराष्ट्रे च (६५)।

नाम उसके लिये अर्थशास्त्र में है। अर्थशास्त्र में इसी से मिलता-जुलता एक और विभाग बतलाया गया है जिसका नाम सन्निधातृ या सन्निधाता है (§ २११)। आगे चलकर ये दोनों विभाग एक में मिल जाते हैं। शुक्रनीति में अर्थ विभाग के मंत्री को "सुमंत्र" कहा गया है। गोविंदराज (§ ३०६) ने इसका दूसरा नाम "अर्थसंचयकृत्" या "अर्थसंचयकर्त्ता" दिया है।

यह स्पष्ट ही है कि सेनापति सेना विभाग का मंत्री होता था। चंद्रगुप्त के शासन-काल में उसका महत्त्व बहुत अधिक दिखलाई देता है; क्योंकि उसे तीसरा स्थान दिया गया है और युवराज से पहले रखा गया है। शुक्रनीति में वह सचिव कहा गया है। जैसा कि रामायण २. १००. ३१ से सूचित होता है, सेनापति युद्ध-क्षेत्र में सेना का संचालन भी करता था और मंत्रि-परिषद् में सैनिक सदस्य भी होता था। पर कौटिल्य के समय में ये दोनों दो अलग पद थे (§ ३०६) और परवर्त्ती काल में भी वे दोनों अलग ही बने रहे। शुक्रनीति में वह सैनिक विभाग का नहीं, बल्कि नागरिक अधिकारी ही माना गया है; क्योंकि मंत्री लोग एक विभाग से दूसरे विभाग में बदले जाते थे और उन सबके पद तथा मर्यादा समान ही होती थी (§ ३२०)।

§ ३०२. ऊपर लिखे पाँचों मंत्री और युवराज सब मिलकर देश का शासन करते थे। इन्हीं के योग से मानो शासन-सभा बनती थी। युवराज का पद वैदिक काल के उपरांत स्थापित हुआ था; पर संभवत: एक दूत को छोड़कर शेष सब मंत्रियों का आरंभ या मूल रत्नियों से ही हुआ था। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में दूत का काम सूत करता था, क्योंकि उन दिनों उसी की प्रधानता थी*। यह ध्यान रखना चाहिए कि चंद्रगुप्त के शासन में युवराज का चौथा स्थान है। उस समय और उसके बाद वह मंत्रि-परिषद् का प्रधान नहीं होता था; क्योंकि उस पद पर दूसरे अधिकारी रहते थे। उसके लिये कोई अलग शासन-विभाग निश्चित किया हुआ नहीं जान पड़ता। महाभारत (१२. ८३. १२) और शुक्रनीति (§ ३१२) में मंत्रि-मंडल को "गण" कहा है। महाभारत में कहा है कि राजा को गण के किसी सदस्य का पक्षपात न करना चाहिए।

गण या मंत्रि-मंडल

§ ३०३. मंत्रि-परिषद् में एक और छोटी परिषद् या सभा बनाने की भी प्रवृत्ति थी। हम इसे अंतरंग सभा कह

---

* महाभारत में संजय अर्थ विभाग का मंत्री बनाया गया है। १३. ४२.

सकते हैं। अर्थशास्त्र (पृ० २८) के अनुसार इसके तीन या चार सदस्य होते थे। राजा बराबर उन्हीं से मत्रणा या परामर्श करता था (मंत्रयेत्)।

अंतरंग सभा

अर्थशास्त्र, रामायण और महाभारत में अंतरंग सभा के इन्हीं सदस्यों को मंत्री कहा गया है। जैसा कि रामायण* के मंत्रधर तथा महाभारत† के मंत्रग्रह शब्दों से सूचित होता है। ऐसी अवस्था में मंत्री शब्द का अर्थ होता था—वह जिसके हाथ में मंत्र या राज्य की नीति हो।

राज्य के मंत्र-ग्रहों या मंत्रधरों (इस खंड के पृ० २८ की दूसरी पाद-टिप्पणी) की संख्या महाभारत के अनुसार कम से कम तीन होनी चाहिए; और यदि पाँच हो तो और भी अच्छा है‡। कौटिल्य ने (पृ० २८) कहा है कि ये तीन या चार होने चाहिएँ। संभवतः आरंभ में लोगों का विचार यही था कि मंत्रधर केवल एक होना चाहिए और राजा उसी को मान्य करे। उत्कट सिद्धांतवादी कणिक भारद्वाज+

---

* अयोध्या कांड, अ० १००, श्लोक १६।

† १२. ८३. ५०।

‡ उक्त ग्रंथ, ४७, ५२, २०-२२।

+ इनके ग्रंथ का पता लगाया जाना चाहिए। इनका कथन बहुत हाल के गोविंदराज तक ने उद्धृत किया है।

(अर्थशास्त्र पृ० २७) का यही मत था ; और मानव धर्मशास्त्र (७. ५८) का भी यही मत जान पड़ता है। विशालाक्ष ने एक मंत्री के गण की निंदा की है (अर्थशास्त्र पृ० २७); और रामायण ने भी इसे अनुचित ही ठहराया है, जिसके अनुसार (२. १००. १८.) गण में न तो एक मंत्री होना चाहिए और न बहुत से। जैसा कि महाभारत और नीतिवाक्यामृत* के उद्धरणों से सूचित होता है, आगे चलकर इनकी संख्या तीन या तीन से अधिक निश्चित हो गई थी। इनका ताक या विषम होना उन्हीं कारणों से अच्छा माना गया था, जिन कारणों से मित्र मिश्र ने जूरियों की संख्या का ताक या विषम होना ठीक बतलाया है। (संख्यावैषम्यन्तु भूयोऽल्पविरोधे भूयसां स्यात्।)† विषम संख्या इसलिये होनी चाहिए कि यदि किसी समय मतभेद हो तो बहुमत से निर्णय किया जा सके।

---

* एको मंत्री न कर्त्तव्यः। एको निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्यकृच्छ्रेषु। द्वावपि मंत्रिणौ न कर्त्तव्यौ तौ संहतौ चरंतौ भक्षयंतौ गृहीतौ च विनाशयतः। त्रयः पंच सप्त वा मंत्रिणः कार्याः। अ० १०।

† वीरमित्रोदय, पृ० ३५।

§ ३०४. अशोक के जिन राजुक मंत्रियों (§ ३१८) को प्रजा पर शासन करने का पूर्ण अधिकार था, जिन्हें प्रजा को अनुग्रह प्रदान करने का अधिकार था और जिनकी रक्षा में राजा अपनी प्रजा को उसी प्रकार छोड़ दिया करता था, जिस प्रकार किसी सुपरिचित दाई के हाथ में माता अपनी शिशु-संतान को छोड़ देती है (स्तंभाभिलेख ४) और जो दंड या शासन तथा अभिहार या शत्रुता घोषित करने के लिये सर्वप्रधान अधिकारी माने जाते थे, वे यही मंत्रधर या मंत्रग्रह जान पड़ते हैं। शासन करनेवाले मंत्री को राजुक कहते थे, जिसका शब्दार्थ होता है—जिसके हाथ में (शासन की) रज्जु या बाग हो। भट्ट भास्कर का 'रज्जुभिर्नियन्ता" और महाभारत का "मन्त्रग्रह" भी इसी प्रकार का शब्द है। उनके संबंध में 'राजा' शब्द का भी व्यवहार किया जाता था। इस संबंध में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चाइल्डर्स ने अपने पाली शब्दकोष में (राजा शब्द का विवेचन करते हुए) प्रातिमोक्ख सूत्र का जो उद्धरण दिया है, उसमें कहा है कि महामात्र लोग 'राजा' कहलाते थे। यह निश्चित है कि अशोक के राजुकों की संख्या एक से अधिक होती थी; क्योंकि साधारणतः उनका उल्लेख बहुवचन में ही हुआ है।

§ ३०५. मंत्रि-परिषद् के इतिहास में हम देखते हैं कि उनकी संख्या बढ़ती और बदलती गई थी, वे एक से अनेक

हो गए थे। एक मंत्रीवाला नियम परंपरा तथा समस्त राष्ट्र की सामाजिक व्यवस्था के विपरीत पड़ता था।

§ ३०६. वास्तविक शासनाधिकार तो मंत्रधरों की संस्था के हाथ में ही था; पर जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, एक मंत्र-परिषद् या मंत्रि-परिषद् भी हुआ करती थी। मंत्र-परिषद् में केवल मंत्री ही नहीं होते थे। कौटिल्य के अनुसार इस सभा के अधिवेशन में मंत्री या मंत्र धारण करनेवाले अधिकारी निमंत्रित किए जाते थे। इस परिषद् में नीचे लिखे लोग होते थे —(१) मंत्रधर या अंतरंग सभा के सदस्य, (२) अन्य विभाग मंत्री, (३) वे मंत्री जिनके हाथ में कोई :वभाग नहीं होता था और (४) कुछ अन्यान्य लोग। साधारणतः इन लोगों की संख्या अधिक हुआ करती थी, जैसा कि महाभारत की ३२ या दूसरे आचार्यों की २० या १६ वाली संख्या अथवा कौटिल्य के उस उदाहरण से सूचित होता है जो उसने इंद्र की बहुसंख्यक सदस्योंवाली सभा का दिया है। इस प्रकार इनकी संख्या गण के सदस्यों की संख्या से बढ़ी हुई होती थी।

मंत्र-परिषद् का संघटन

§ ३०७. इस संबंध में हमें निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है कि उक्त चार वर्गों में से चौथे वर्ग में कौन लोग होते थे। जिस समय मंत्रियों ने

अशोक का किया हुआ दान देना अस्वीकृत कर दिया था, उस समय अशोक ने जिस परिषद् का आवाहन किया था, उसमें पौर (देखो अट्ठाईसवाँ प्रकरण) और अमात्य लोग थे।

पौर-जानपद और मंत्रि-परिषद्

दूसरे प्रमाणों से यह सूचित होता है कि परिषद् में पौर और जानपद के नेताओं के लिये कुछ स्थान रक्षित रहते थे। महाभारत (शांति० अ० ८३) और शुक्रनीति (२. ३)* से यह बात सूचित होती है। शुक्रनीति (२. ३) के अनुसार राजा जिनकी सम्मति मानने के लिये बाध्य है, वे इस प्रकार हैं—(अ) सभ्य, (आ) अधिकारी और (इ) प्रकृति या वे लोग जो परिषद् में सभासद के रूप में उपस्थित हों। गोविंदराज द्वारा उद्धृत आचार्य के मत से (§ ३०६) सभ्य वही कहलाता था जो परिषद् का प्रधान होता था अथवा जो कौटिल्य की मंत्र-परिषद् का प्रधान होता था। अधिकारी लोग अधिकरणों या विभागों के प्रधान कर्मचारी हुआ करते थे अर्थात् वे मंत्री होते थे। अंतिम (प्रकृति) लोग अवश्य ही प्रजावर्ग के होंगे (देखो पृ० १२६) अर्थात् वे प्रजा के

---

* सभ्याधिकारि-प्रकृति-सभासत्सु मते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन॥
—शुक्रनीतिसार।

प्रतिनिधि और पौर या जानपद के प्रधान होंगे (§ २६५)। रामायण. [अयो० का० अ० ८१ (१२) और ८२ (१,४)] में कहा गया है कि प्रजा के प्रतिनिधियों और मंत्रियों ने मिलकर एक आत्यायिक ("असाधारण या विशेष" मिलाओ अर्थशास्त्र पृ० २६) कार्य का विचार करने के लिये "प्रग्रहा" नामक शासक सभा की थी।

महाभारत* में जहाँ सभा का विवरण दिया गया है (१२. ८३, श्लोक १-२), वहाँ नीचे लिखे तीन वर्ग गिनाए गए हैं।

(१) सहाय, जिनसे उसका अभिप्राय है, अमात्य सहाय अथवा वे श्रेष्ठ मंत्री जिनके हाथ में शासन के कुछ विशिष्ट विभाग होते थे (श्लोक ३-४)।

(२) परिच्छद अमात्य, जिनके लिये यह आवश्यक था कि बहुत अधिक विद्वान्, कुलीन, उसी देश के निवासी, गंभीर, बुद्धिमान् और राजनिष्ठ हों। उनका नाम "परिच्छद" यह सूचित करता है कि वे संभवतः बहुत मान्य और श्रेष्ठ होते थे और राजा के यहाँ

---

* सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशांपते।
परिच्छदास्तथाऽमात्याः कीदृशाः स्युः पितामह॥
—महाभारत।

ही पालित-पोषित हुआ करते थे। उनमें से एक दौवारिक भी था जो राजप्रासाद का सर्वप्रधान अधिकारी होता था और जिसका पद बहुत श्रेष्ठ होता था (देखो § ३०६)। उन सबके अलग अलग अधिकरण या विभाग हुआ करते थे (देखो § ३०६)। उन्हींमें से राजा अपने वे मंत्री चुना करता था (श्लोक ७-८) जिनका शुक्रनीति के ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोक से पहलेवाले श्लोक (२. २) में उल्लेख है। महाभारत के इस अध्याय के शेषांश में मंत्रियों के विषय का ही वर्णन है; और फिर कुछ ही अंतर पर अध्याय ८५ में दोबारा उनका उल्लेख है, जहाँ ३२ मंत्रियों की सूची दी गई है। उनमें से आठ मंत्रियों को राजा गण के लिये मंत्री चुना करता था। यह निर्देश किया गया है कि वे जो नीति निर्धारित करें, वह राष्ट्र और राष्ट्र के प्रधान अर्थात् जानपद के समक्ष सम्मति के लिये उपस्थित की जानी चाहिए।

(३) राष्ट्र। यह तीसरा नया तत्त्व शुक्रनीति की प्रकृति के ही तुल्य है*।

---

* अध्याय ८३ के पहले श्लोक में जिस "सुहृद्" वर्ग के सभासदों का उल्लेख है और जिसके साथ सहाय

इस प्रकार महाभारत का राष्ट्र और शुक्रनीति में की प्रकृति दोनों वही हैं जिन्हें अशोक की बुलाई हुई परिषद् में पौर और रामायण (अयो० कां० ८२. ४. १७.) में प्रकृति-सभासद कहा है।

इस प्रकार यह सूचित होता है कि परिषद् के केवल वैदिक नाम में ही सार्वजनिकता के चिह्न नहीं थे, बल्कि वह वास्तव में सार्वजनिक तत्त्व से युक्त होती थी। यद्यपि आगे चलकर उसका संबंध मंत्र या मंत्री के साथ स्थापित

तथा परिच्छद वर्ग भी उल्लिखित हैं, संभवतः उस सुहृद् वर्ग से यह राष्ट्र वर्ग मिलता हुआ है अथवा उसी के स्थान पर है। यह स्पष्ट नहीं होता कि राष्ट्र के प्रतिनिधियों को सुहृद् क्यों कहा गया है। राजनीतिक लेखकों ने ऐसे दो विभाग बनाए हैं जिनमें से एक में वे राजाओं के स्वाभाविक मित्रों को और दूसरे में स्वाभाविक शत्रुओं को स्थान देते हैं। राष्ट्र के प्रतिनिधि कदाचित् इसी लिये राजा के मित्र या सुहृद् कहे गए हैं कि वे लोग राजवंश के अन्यान्य लोगों की भाँति अपने लिये कोई उच्च आकांक्षा या कामना नहीं रखते थे, बल्कि वे स्वभावतः राजा के पक्ष का समर्थन करने में ही अपना हित समझते थे।

हो गया था, तो भी उसमें वैदिक काल से परंपरा द्वारा आई हुई सार्वजनिक सभा का कुछ न कुछ भाव अवश्य सम्मिलित था।

§ ३०८. इस मंत्रि-परिषद् को मंत्रियों की परिषद् या मंत्रि-मंडल न मानकर राष्ट्र-परिषद् मानना अधिक उत्तम जान पड़ता है। इस संबंध में हमें मंत्र-परिषद् शब्द पर ध्यान देना चाहिए जिसका कौटिल्य ने ंद्र की मंत्रि-परिषद् के लिये प्रयोग किया है और जिसका अर्थ होता है—राष्ट्र के कार्यों का विवेचन करनेवाली परिषद्। बहुत बड़ी अर्थात् हजार सदस्योंवाली परिषद् का उल्लेख कौटिल्य में भी है और रामायण में भी (२. १०० जहाँ उसकी कुछ निंदा सी भी की गई है)। संभवतः यह वैदिक परिषद् का अवशिष्टांश थी।

§ ३०९. एक और प्राचीन वर्ग था जिसे "अष्टादश तीर्थ" कहते थे। रामायण (२. १००. ३६) में उसका उल्लेख है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका वर्णन है और "तीर्थ" का अर्थ "महा अमात्य" बतलाया गया है (पृ० २१-२२)। वे उच्च और निम्न दोनों वर्गों के प्रधान अधिकारी हुआ करते थे। उनमें से दो राजप्रासाद के भी अधिकारी होते थे। यह वर्ग बहुत पुराना था और दिन पर दिन इसका

तीर्थ

अस्तित्व मिटता जाता था। महाभारत में जहाँ राजनीति का विवेचन है, वहाँ कदाचित् इसका उल्लेख नहीं है।

सोमदेव सूरि* ने एक उद्धरण दिया है जिसमें तीर्थों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वह धर्मशास्त्र तथा शासन-कार्य करनेवाले अधिकारियों की एक संस्था या वर्ग था। यह निश्चित जान पड़ता है कि तीर्थ का अर्थ किसी विभाग का प्रधान अधिकारी था; क्योंकि अर्थशास्त्र में जितने तीर्थों का वर्णन है, उन सबके अधिकार में कोई न कोई विभाग अवश्य था। तीर्थ का शब्दार्थ है—वह स्थान जहाँ से होकर जाना पड़े; अर्थात् मार्ग। मंत्रियों और विभागों के प्रधान अधिकारियों का यह नाम कदाचित् इसलिये पड़ा था कि उन्हीं के द्वारा होकर भिन्न भिन्न विभागों में आज्ञाएँ पहुँचा करती थीं। इस तीर्थ वर्ग से विशिष्ट कार्याधिकारियों के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। वे इस प्रकार थे[†]—

---

* नीतिवाक्यामृत अ० २. धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषाः तीर्थम्।

† अर्थशास्त्र १. १२. ८. (पृ० २०-२१) साथ ही मिलाओ उक्त ग्रंथ ५. २. ६१. (पृ० २४५)

(१) मंत्री।

(२) पुरोहित।

(३) सेनापति या सेना विभाग का मंत्री। (आगे देखो नं० ११ में "नायक"।)

(४) युवराज।

(५) दौवारिक या राज-प्रासाद का प्रधान अधिकारी।

(६) अंतर्वंशिक या राजवंश के गृह-कार्यों का प्रधान अधिकारी।

(७) प्रशास्तृ या प्रशास्ता। जान पड़ता है कि यह प्रधान प्रशास्ता हुआ करता था; क्योंकि इस नाम के कई अधिकारी भी होते थे। गोविन्दराज ने जो गिनती गिनाई है, उसके अनुसार यह मंत्री कारागारों का प्रधान अधिकारी था।

(८) समाहर्त्ता या माल विभाग का मंत्री।

(९) सन्निधाता या राजकोष का मंत्री।

(१०) प्रदेष्टा, जिसके कार्य स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हैं।

(११) नायक या सैनिकों का प्रधान अधिकारी।

(१२) पौर या राजधानी का प्रधान शासक।

(१३) व्यावहारिक (शब्दार्थ—न्यायकर्त्ता; अथवा गोविंद-राज के अनुसार सर्वप्रधान न्यायाधीश)।

(१४) कार्मान्तिक या खानों और कारखानों आदि का प्रधान अधिकारी।

(१५) मंत्रि-परिषद् का अध्यक्ष या परिषद् का प्रधान। गोविंदराज के अनुसार सभ्य।

(१६) दंडपाल या सेना के निर्वाह आदि का काम करने वाला प्रधान अधिकारी।

(१७) दुर्गपाल या शत्रुओं से देश की रक्षा करनेवाला अधिकारी। और

(१८) अंतपाल या राष्ट्रांतपाल अर्थात् सीमा प्रांतों का प्रधान अधिकारी।

(अर्थशास्त्र पृ० २४५.)

इस सूची से यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सेनापति युद्ध-क्षेत्र में सेना का संचालन करनेवाला प्रधान अधिकारी नहीं था, बल्कि वह सेना-विभाग का मंत्री था। सेनाओं का संचालन करनेवाला नेता नायक था। प्रधान न्यायाधीश को आगे चलकर प्राड्विवाक कहने लगे थे; पर यहाँ उसे व्यावहारिक कहा गया है। मंत्रि-परिषद् के जिस अध्यक्ष का इसमें उल्लेख है, वह शुक्रनीति में का प्रधान है। उसे नागरिक विभाग में से वेतन मिलता था (अर्थशास्त्र, पृ० २४५)। गोविंदराज ने अठारह तीर्थों की व्याख्या करते हुए (रामायण २. १००. ३६) नीतिशास्त्र संबंधी बिना नामवाले एक ग्रंथ का उद्धरण दिया है और परवर्त्ती काल में व्यवहृत होनेवाले नाम भी दिए हैं,

जिनमें से कुछ इन नामों से भिन्न हैं। अर्थशास्त्र में तो प्रशास्ता के संबंध में कुछ भी पता नहीं चलता; पर गोविंद-राज ने उसके स्थान पर कारागार-अधिकृत् नाम दिया है, जिससे उसका कार्य स्पष्ट हो जाता है। इसे जेलखानों का इंसपेक्टर-जनरल कह सकते हैं (इसका शब्दार्थ होता है—दंडित अपराधियों का सुधार करनेवाला*)। अर्थ-शास्त्र में दिए हुए आठवें और नवें तीर्थों के स्थान पर गोविंदराज ने अर्थ-संचय-कर्त्ता का नाम दिया है। प्रदेष्टा को (अर्थशास्त्र पृ० २४५) अमात्यों में स्थान नहीं दिया गया है, पर गोविंदराज ने उसे कार्य-नियोजक कहा है और बतलाया है कि वह राजाज्ञाओं का प्रचार करनेवाला था (राजाज्ञायाः बहिः प्रचारकर्त्ता)। व्यावहारिक के स्थान पर गोविंदराज ने बाद का प्रचलित शब्द प्राड्विवाक दिया है। (पाली धर्म-ग्रंथों में केवल वोहारिक शब्द ही मिलता है।) अर्थशास्त्र में जो नायक सेना का प्रधान संचालक बतलाया गया है, उसके बदले में गोविंदराज में सेनानायक और पौर के स्थान में नगराध्यक्ष मिलता है। मंत्रि-परिषद् का अध्यक्ष वही है जो 'सभ्य' है (जिसे गोविंदराज ने भूल

---

* श्रीयुक्त शाम शास्त्री ने जो व्याख्याएँ दी हैं, उनमें से अधिकांश ठीक नहीं हैं। देखो उनका अनुवाद पृ० २३

से सभा-भवन से संबद्ध कर दिया है)। गोविंदराज ने एक और नए अधिकारी धर्माध्यक्ष का भी उल्लेख किया है जो हमारी समझ में शुक्रनीति का पंडित अमात्य ही है। अर्थशास्त्र की जो सूची ऊपर दी गई है, उसकी आठवीं संख्या के उपरांत गोविंदराज की सूची में थोड़ा सा परिवर्त्तन देखने में आता है।

मंत्रियों के तीन वर्ग

§ ३१०. पाली त्रिपिटक, रामायण और शुक्रनीति के अनुसार मंत्री लोग तीन विभागों या वर्गों में विभक्त होते थे। रामायण में वे मुख्य, मध्यम और जघन्य इन तीन विभागों या वर्गों में विभक्त कहे गए हैं। शुक्रनीति में भी उनका यही विभाग है*।

राज्याधिकारियों की सूची और राजा का वेतन

§ ३११. अर्थशास्त्र में राज्याधिकारियों की जो सूची दी गई है, उसमें भी अठारह तीर्थ तीन भागों में विभक्त किए गए हैं। उस सूची में राजा से लेकर राजकीय इतिहास-लेखक और मंत्रियों तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियों आदि तक के वेतन दिए गए हैं। आपस्तंब

---

* अयोध्या कांड, १००. २५-२६—मुख्य, मध्यम, जघन्य। शुक्रनीतिसार २. १०६-११०।

के अनुसार राजा का वेतन अमात्यों और धार्मिक उपदेश देनेवाले गुरुओं के वेतन से अधिक नहीं होना चाहिए* । अर्थशास्त्र में दी हुई सूची देखने से यह विधान और भी स्पष्ट हो जाता है। कौटिल्य कहता है कि राजा के समान योग्यता रखनेवाले (समान-विद्य) अधिकारियों को जो वेतन मिलता हो, उसकी अपेक्षा राजा को तिगुना वेतन मिलना चाहिए† । प्रधान मंत्री और सेनापति को हम राजा का समान-विद्य समझ सकते हैं। सूची में प्रथम श्रेणी के जो धार्मिक अधिकारी रखे गए हैं, वे ऋत्विक् और आचार्य हैं। ये दोनों और पुरोहित ही आपस्तंब के गुरु हैं। इन तीनों को मिलाकर जितना वेतन मिलता हो, अथवा कौटिल्य की सूची में के मंत्री, सेनापति और युवराज इन तीन सर्वोच्च अधिकारियों को जितना वेतन मिलता हो, आपस्तंब के अनुसार राजा का वेतन उससे अधिक नहीं होना चाहिए। अर्थात् हम कह सकते हैं कि दोनों के विधान एक-से ही हैं। गुरुओं

---

* आपस्तंब धर्मसूत्र २. ६. २५. १०. गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत् ।

† अर्थशास्त्र ५. ३. ६१ (पृ० २४६)।
समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा ।

और अमात्यों को प्रति वर्ष ४८००० (रौप्य) पण वेतन मिलता था*। राजमाता तथा अभिषिक्त महारानी के लिये भी इतना ही वेतन निर्धारित था।

मंत्रियों की दूसरी श्रेणी वह है जिसमें हमारी सूची के ५ से ६ तक के अधिकारी आते हैं। इन लोगों को २४००० रौप्य पण वार्षिक वेतन मिलता था। तीसरी श्रेणी के मंत्रियों को १२००० वार्षिक मिलता था। इस श्रेणी में वे लोग आते थे, जो हमारी उक्त सूची में ११ से १८ तक दिए गए हैं। इसी श्रेणी में कुमार और उनकी माताएँ भी रखी गई हैं।

——

* श्रीयुक्त शाम शास्त्री ने अर्थशास्त्र का जो अनुवाद किया है, उसमें राजा के वेतन का उल्लेख बिलकुल छोड़ ही दिया है।

इकतीसवाँ प्रकरण

मंत्रि-परिषद् (क्रमागत)

शासन

§ ३११क. मंत्रियों का पूरा पूरा कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"यदि राज्य, प्रजा, बल, कोश, सुशासन या सुराजत्व (सुनृपत्व) का वर्द्धन न हो और मंत्रियों की नीति या मंत्रणा से शत्रु का नाश न हो, तो ऐसे मंत्रियों के रहने से ही क्या लाभ"! (अर्थात् ऐसे मंत्रियों का रहना ठीक नहीं है* ।)

मंत्रियों का कर्त्तव्य

सुराजत्व या सुनृपत्व के संबंध में हमारे यहाँ जो सिद्धांत निश्चित था, वह उसी ग्रंथ के आधार पर यहाँ दिया जाता

---

* शुक्रनीतिसार २. ८३ ।
राज्यं प्रजा बलं कोशः सुनृपत्वं न वर्द्धितम् ।
यन्मंत्रतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥

है। इस संबंध के श्लोक उक्त श्लोक से ठीक पहले दिए गए हैं। उनमें कहा है—"राजा पर किसी प्रकार का बंधन या नियंत्रण नहीं होता; इसी नियंत्रण के लिये मंत्रियों की आवश्यकता होती है।" इसके आगे के श्लोक में नीति में कहा है—"यदि मंत्री लोग राजा को नियंत्रण में न रख सकें, तो क्या ऐसे मंत्रियों से राज्य का संवर्द्धन कभी सम्भव है ? ऐसी अवस्था में वे वास्तविक मंत्री न रह जायँगे और उनकी अवस्था उन्हीं अलंकारों और भूषणों के समान हो जायगी जो स्त्रियों के शरीर पर रहते हैं* ।" इसलिये सुराजत्व या सुनृपत्व का अर्थ है—"नियंत्रित एकराजत्व"।

मंत्री को राज-राष्ट्रभृत्† कहा गया है, अर्थात् वह राजा और राष्ट्र दोनों का भार और उत्तरदायित्व वहन करनेवाला है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, राजा सदा मंत्रि-परिषद् के निर्देश के अनुसार चलने के लिये बाध्य

---

* शुक्रनीतिसार २. ८१, ८२।
रोधनं न भवेत्तस्माद्राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ॥
न बिभेति नृपो येभ्यस्तैः स्यात्किं राज्यवर्द्धनम्।
यथालङ्कारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथा हि ते ॥
† उक्त ग्रंथ २. ७४।

रहता था; और नहीं तो राष्ट्र-संघटन संबंधी नियमों के अनुसार वह वास्तविक राजा नहीं रह जाता था*। जैसा कि महाभारत में कहा गया है, वह सदा दूसरों (मंत्रियों) के शासन और नियंत्रण में रहता था†।

मंत्रि-परिषद् का कार्यक्रम

§ ३१२. हम अर्थशास्त्र के आधार पर ऊपर यह बतला चुके हैं कि असाधारण और विशेष कार्यों पर मंत्रि परिषद् की पूरी बैठक में विचार होता था। इससे यह ध्वनि निकलती है कि साधारण कार्य अलग अलग मंत्री स्वयं ही किया करते थे। इसके लिये सब बातों का लेखा लिखकर रखने की आवश्यकता होती होगी। इस बात का प्रमाण मिलता है कि वास्तव में सब बातें लिखकर रखी जाती थीं। अशोक अपने शिलालेखों में मौखिक आज्ञाओं का भी उल्लेख करता है‡, जिससे यह ध्वनि निकलती

---

* नीतिवाक्यामृत १० में उद्धरण। न खल्वसौ राजा यो मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्त्तते।

† शान्ति० (कुंभ०) ३२५. १३६-४०—परतन्त्रः सदा राजा......सन्धि-विग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता... मन्त्रे चामात्यसहिते कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥

‡ प्रधान शिलाभिलेख ६. यं पि चा किछि मुखते आनपयामि हकं दापकं वा सावकं वा; इत्यादि। (कालसी)

है कि साधारणतः आज्ञाएँ लिखित हुआ करती थीं। अर्थशास्त्र भी कहता है कि जो मंत्री राजा के समक्ष उपस्थित नहीं होते, वे राजा की जानकारी के लिये सब बातें लिख रखते हैं*। अभी तक हमें कोई ऐसा लेख नहीं मिला, जो किसी मंत्री के कार्यालय से निकला हो। परंतु फिर भी इस संबंध में शुक्रनीति में एक बहुत महत्त्वपूर्ण और विस्तृत विवरण मिलता है। यह स्पष्ट है कि वह विस्तृत विवरण ईसवी आरंभिक शताब्दियों के समय का है; क्योंकि उसमें दूत का उल्लेख है; और आगे चलकर गुप्त काल में यह "दूत" नाम उठ गया था और इसके स्थान पर सांधि-विग्रहिक शब्द का व्यवहार होने लगा था। राष्ट्र-संघटन के विचार से यह बात बहुत ही महत्त्व की है। किसी विषय के मंत्रियों के यहाँ से होकर राजा के पास पहुँचने और तब मंत्रिपरिषद् में निश्चय का रूप प्राप्त करने में जिस क्रम का व्यवहार होता था, वह इस प्रकार है—

बिना किसी लेख्य के राज्य का कोई काम नहीं होता था। सबसे पहले मंत्री (प्राड्विवाक), पंडित और दूत

---

* अर्थशास्त्र १. १५. ११. (पृ० २९)।
अनासन्नैस्सह पत्रसंप्रेषणेन मंत्रयेत्।

नामक मंत्री उस पर एक निश्चित प्रकार से लिख देते थे कि इस लेख्य के संबंध में हमारे विभाग को कोई आपत्ति नहीं है (स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं)। इसके उपरांत अमात्य उस पर लिखता था—यह लेख्य बिलकुल ठीक है (साधु)। फिर उस पर अर्थमंत्री लिखता था—इस पर सम्यक् रूप से विचार हो चुका है ; और तब सब के अंत में प्रधान अपने हाथ से लिखता था—यह वस्तुतः यथार्थ है। इसके उपरांत प्रतिनिधि लिखता था—यह अंगीकृत करने के योग्य है ; और तब युवराज लिखता था—इसे अंगीकृत करना कर्त्तव्य है। पुरोहित लिखता था—यह मेरे लिये अभिमत है ; अर्थात् मैं इससे सहमत हूँ। प्रत्येक मंत्री अपने हाथ से लिखता था और उसके अंत में अपनी मुद्रा अंकित करता था। और तब सबके अंत में राजा उस पर "अंगीकृत" लिखकर अपनी मुद्रा अंकित कर देता था। समस्त लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ना राजा के लिये संभव नहीं था ; अतः युवराज या और कोई मंत्री उस पर राजा की ओर से लिख देता था और राजा को दिखला देता था। इस आरंभिक कृत्य के उपरांत सब मंत्री 'गण' के रूप में उस लेख्य पर हस्ताक्षर करते थे और उस पर गण या परिषद् की मुद्रा अंकित की जाती थी। इन सब कृत्यों के उपरांत फिर वह लेख्य 'बिना विलंब' राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था और राजा उसे आलोचनात्मक दृष्टि से

देखने में सक्षम नहीं होता था; इसलिये वह उस पर लिख देता था—मैंने इसे देख लिया (दृष्टमिति*)।

---

* शुक्रनीतिसार २. ३६२-३६९।
लेखानुपूर्वं कुर्याद्धि दृष्ट्वा लेख्यं विचार्य च ॥
मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे। ३६३॥
अमात्यः साधु लिखनमस्त्येतत्प्राग्लिखेदयम्।
सम्यग्विचारितमिति सुमन्त्रो विलिखेत्ततः ॥३६४॥
सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत् स्वयम्।
अङ्गीकर्त्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥३६५॥
अङ्गीकर्त्तव्यमिति च युवराजो लिखेत् स्वयम्।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतद्विलिखेच्च पुरोहितः ॥३६६॥
स्वस्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि।
अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥३६७॥
कार्यान्तरस्याकुलत्वात्सम्यग्द्रष्टुं न शक्यते।
युवराजादिभिर्लेख्यं तदनेन च दर्शितम् ॥३६८॥
समुद्रं विलिखेयुर्वै सर्वे मन्त्रिगणास्ततः।
राजा दृष्टमिति लिखेद् द्राक् सम्यग्दर्शनाक्षमः ॥३६९॥

स्वीकृति लिखने की समस्त निश्चित प्रणालियाँ संस्कृत में हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि यह कार्यक्रम उस

§ ३१३. यहाँ राजा की जिस 'अक्षमता' का उल्लेख है, वह अक्षमता शारीरिक नहीं है, बल्कि वह अधिकार और शक्ति संबंधी अक्षमता है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि जो बात परिषद् में बहुमत से निश्चित हो जाती थी, उसे अस्वीकृत करना या उसके विरुद्ध आज्ञा देना राजा की शक्ति के बाहर होता था (अर्थशास्त्र)। जिन साधारण कामों के लिये राजा को समस्त परिषद् का आवाहन नहीं करना पड़ता था और जो केवल किसी एक मत्री के द्वारा संपन्न होते थे, उन पर जब समस्त मंत्रियों का 'गण' विचार करके उसे निश्चय के रूप में स्वीकृत और मुद्रांकित कर देता था, तब, जैसा कि शुक्रनीति में कहा है, राजा

परिषद् के प्रस्तावों की आलोचना के संबंध में राजा की 'अक्षमता'

समय का था, जिस समय संस्कृत का फिर से व्यवहार होने लगा था और जिसका समय शुंग राज्यक्रांति का इतिहास देखते हुए ईसा पूर्व १२० से लेकर ईसवी सन् १०० तक ठहरता है। (J. B. O. R. S. ४ पृ० २५७-६५)।

दिव्यावदान (पृ० ४०४ और ४२९) में भी "अमात्य-गण" पद आया है जिससे सूचित होता है कि वह भी मंत्रियों की सभा या परिषद् के संबंध में 'गण' शब्द मान्य करता है।

वास्तव में उस पर टीका-टिप्पणी करने में अक्षम हो जाता था। जब मंत्री व्यक्तिगत रूप से पहले राजा के सम्मुख लेख्य उपस्थित करते थे, तब मानों राजा को पहले इस बात का अवकाश दिया जाता था कि वह यदि चाहे, तो उस संबंध में मंत्रियों से कोई बात पूछ सके, उस पर वाद-विवाद कर सके और उचित समझे तो उस संबंध में अपनी सम्मति या सूचना भी दे सके।

राजाज्ञा से युक्त निश्चय राजा का रूप होता था।

§ ३१४. अब वह लेख्य राष्ट्र के निश्चय और राजाज्ञा का रूप प्राप्त कर लेता था और राष्ट्र-संघटन संबंधी नियमों के अनुसार वह लेख्य स्वयं "राजा" का रूप हो जाता था। इस संबंध में शुक्रनीति में कहा है*—"जिस लेख्य पर राजा के हस्ताक्षर और मुद्रा अंकित हो, वही लेख्य राजा है; स्वयं राजा कुछ नहीं है।" राज्य के अधिकारी या कर्मचारी लोग राजा की किसी ऐसी आज्ञा का पालन नहीं करते थे जो लिखित नहीं होती थी। जिस आज्ञा पर राजा के हस्ताक्षर और मुद्रा अंकित होती थी, वह आज्ञा वास्तव में मंत्रि-परिषद् की

---

* शुक्रनीतिसार २. २९२।
नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृपः।

होती थी और वही आज्ञा वास्तव में "राजा" होती थी। इसलिये उसे छोड़कर जो कोई अस्थि-मांस के राजा की आज्ञा का पालन करता था, वह राष्ट्र-संघटन संबंधी नियमों की दृष्टि में बाहरी आदमी की आज्ञा का पालन करता था; अथवा शुक्रनीति के शब्दों में* वह चोर था और बाहरी आदमी या चोर की आज्ञा का पालन करता था।

"जो राजा अथवा उसका कोई भृत्य बिना किसी लेख्य के मौखिक आज्ञा देता है, अथवा राज्य का और कोई काम करता है, वे दोनों (राजा और भृत्य) सदा चोर हैं।"

मौखिक आज्ञा

§ ३१५. निश्चित क्रम के अनुसार लिखित आज्ञा या लेख्य ही वास्तव में मंत्रि-परिषद् की आज्ञा होता था; इसलिये जो राजा अपनी व्यक्तिगत आज्ञाओं का पालन कराना चाहता था, वह मौखिक आज्ञाएँ देता और प्रार्थनाएँ करता था; और जब कोई मौखिक आज्ञा दी जाती थी, तब ऊपर दिए हुए नियम से निकलनेवाली ध्वनि के अनुसार राजा का जो भृत्य उस आज्ञा का पालन करता था, वह मानों धर्मतः एक चोर की आज्ञा का पालन करता था;

---

* शुक्रनीतिसार, २. २९१।
अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः।
राजकृत्यमुभौ चोरौ तौ भृत्यनृपती सदा॥

और इसलिये अस्थि-मांस के राजा के लिये उसके परिणाम-स्वरूप कुछ कठिनता भी उपस्थित होती थी। हमें अशोक के शिलाभिलेखों का इस बात के लिये उपकृत होना चाहिए कि उनमें इस प्रथा का अविनश्वर प्रमाण मिलता है कि इस प्रकार की आज्ञाओं का प्रचार करने से राजा को किस कठिनता का सामना करना पड़ता था। अपने प्रज्ञापनों, उपदेशों (सावकं) और दानों (दापकं) के संबंध में अशोक ने मौखिक आज्ञाएँ दी थीं। परिणाम यह हुआ कि "परिसा" या परिषद् ने उन आज्ञाओं पर विचार किया और तब उन्हें रोक दिया। इसी लिये क्रुद्ध राजा आज्ञा देता है कि जब कभी मेरी मौखिक आज्ञाएँ अस्वीकृत की जायँ, तब तुरंत मुझे उस अस्वीकृति की सूचना दी जाया करे*।

मंत्रियों के अधिकार के संबंध में मेगास्थिनीज

§ ३१६. शुक्रनीति में राजा और मंत्रियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य आदि के संबंध में जो बातें बतलाई गई हैं, उन सबका सारांश यह है कि स्वयं राजा के हाथ में कोई शक्ति नहीं थी। शासन संबंधी समस्त कार्य परिषद् के हाथ में थे†।

---

* इंडियन एंटीक्वेरी, १८९३, पृ० २८२।

† § ३११ में महाभारत का जो उद्धरण दिया गया है, उससे इसका समर्थन होता है।

मेगास्थिनीज ने भारत का जो विवरण लिखा था, वह अब छोटे छोटे टुकड़ों में ही प्राप्त है। वे टुकड़े हमें जिस रूप में मिलते हैं, उससे सूचित होता है कि वास्तव में शासन संबंधी समस्त कार्य मंत्रि-परिषद् के हाथ में रहता था, उस परिषद् का बहुत अधिक आदर होता था और उसकी श्रेष्ठता तथा बुद्धिमत्ता परंपरा से प्रसिद्ध थी। वह सार्वजनिक विषयों का विचार और निर्णय करती थी, प्रांतों के शासक (प्रधान उपशासक), जल तथा स्थल-सेना के नायक और सेनापति तथा कृषि-विभाग के प्रधान अधिकारी चुनती और नियुक्त करती थी।

(अ) "सातवाँ वर्ग मंत्रियों और असेसरों का है जो सार्वजनिक विषयों पर विचार और निर्णय करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति या वर्ग देखने में बहुत छोटा जान पड़ता है; पर अपने सदस्यों के आचरण की श्रेष्ठता तथा बुद्धिमत्ता के कारण सबसे अधिक प्रतिष्ठित और मान्य है* ।"

(आ) "इस सातवें वर्ग में राजा के मंत्री और असेसर लोग हैं। राज्य के ऊँचे से ऊँचे पद, न्यायालय

---

* डायोडोरस कृत Epitome of Megasthenes २. ४१. मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes, पृ० ४३।

और सार्वजनिक विषयों की साधारण व्यवस्था सब उन्हीं के हाथ में है * ।"

(इ) "संख्या के विचार से यह वर्ग छोटा है, पर अपनी विशिष्ट बुद्धिमत्ता तथा न्याय के कारण इसने श्रेष्ठता प्राप्त कर रखी है; और इसी लिये इसे प्रांतों के प्रधान शासक, उप-शासक, कोषाध्यक्ष, सेनापति, नौ-सेनापति तथा कृषि विभाग के निरीक्षक और प्रधान आदि निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त है† ।"

भारद्वाज और मेगास्थिनीज में मतैक्य

§ ३१७. मंत्रियों आदि के अधिकार के संबंध में जो वर्णन ऊपर दिया गया है, उसका समर्थन हमारे यहाँ के लेखों और ग्रंथों आदि से भी होता है। हिंदू राजनीतिशास्त्र के संबंध में भारद्वाज एक प्रतिष्ठित और मान्य आचार्य हैं और उनका मत महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र दोनों में उद्धृत है। उन्होंने मंत्रियों के अधिकार के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह इस प्रकार है—

---

* स्ट्रैबो १५. ४८; मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes पृ० ८५।

† एरियन १२; मैक्क्रिंडल कृत Megasthenes पृ० २१२।

"राजा के व्यसनों में लिप्त होने की अपेक्षा मंत्रियों का व्यसनों में लिप्त होना बहुत बुरा है। (१) राष्ट्र के कार्यों के संबंध में मंत्रणा, (२) उस मंत्रणा के फल की प्राप्ति, (३) कार्यों का अनुष्ठान. (४) आय-व्यय संबंधी सब कार्य, (५) सेना, (६) उसका संचालन. (७) शत्रुओं और जंगलियों से रक्षा, (८) राज्य की व्यवस्था, (९) दुर्व्यसनों से प्रजा की रक्षा और (१०) कुमारों की रक्षा तथा पदों पर उनका अभिषेक सब कुछ मंत्रियों के ही हाथ में है*।"

---

* स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीय इति। मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्मदंडाप्रणयनममित्राटवी-प्रतिषेधो राज्यरक्षणं व्यसन-प्रतीकारः कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणामायत्तममात्येषु। कौटिल्य ८. १. १२७. (पृ. ३२०) में उद्धरण। यद्यपि कौटिल्य ने कहा है कि मंत्रि-परिषद् और विभागों की रचना राजा ही करता है और वही उन्हें पतित होने से रोकता है, इसलिये राजा का महत्त्व अधिक है; परंतु फिर भी उसने मंत्रियों के अधिकारों में कोई परिवर्त्तन नहीं किया है। श्रीयुक्त शाम शास्त्री ने "आयत्त" का अर्थ करने में भूल की है। धर्मशास्त्रों में उसका जो पारिभाषिक अर्थ है, वही यहाँ दिया गया है। (देखो § ३२२)

(१) भारद्वाज की नीति या मंत्र मेगास्थिनीज के सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था से मिलता है। उसका (२), (३) और (८) मेगास्थिनीज के प्रजा के शासन की व्यवस्था से मिलता है। उसका (५), (६) और (७) मेगास्थिनीज के सेनापतियों और नौसेनापतियों के निर्वाचन से मिलता है। उसका (१०) मेगास्थिनीज के प्रांतीय शासकों आदि के निर्वाचन से मिलता है और उसका (४) मेगास्थिनीज के कोष तथा कृषि विभाग के अधिकारियों के निर्वाचन से मिलता है।

मेगास्थिनीज ने जिन्हें असेसर कहा है, वे या तो तीर्थ हैं और या छोटे मंत्री (§ ३०६-१०); और उसके काउंसिलर या मंत्री लोग मंत्रि-परिषद् के सदस्य हैं।

इस प्रकार मंत्रि-परिषद् के कार्यों और अधिकारों का क्षेत्र ज्ञात हो गया। ऊपर हमने शासन संबंधी जो कानून और नियम आदि बतलाए हैं, उनका इस कार्य और अधिकार-क्षेत्र से समर्थन हो जाता है।

अशोक के समय में इसके अनुसार कार्य

§ ३१८. यदि इस प्रकार का शासन-संघटन रहते हुए भी राजा स्वेच्छाचार करने लगे, तो उसका परिणाम यही होगा कि राज्य में क्रांति हो जाय। या तो राजा को अपना आचार-विचार बदलना पड़े और या शासन-संघटन बदल दिया जाय; और मंत्री लोग या तो कारागार में भेज

दिए जायँ और या उन्हें प्राण-दंड मिले। पर मंत्रियों के समर्थन के लिये पौर और जानपद उनके साथ होते थे और साथ ही धर्म-शास्त्र तथा प्रचलित प्रथा और परंपरा भी उन्हीं के पक्ष में होती थी*। हिंदू संस्थाओं में सहज में परिवर्तन नहीं किया जा सकता; और जब शासन संबंधी नियम एक बार स्थापित हो गए और शास्त्रों द्वारा पुनीत कर दिए गए, तब उनका उल्लंघन करके आपत्ति से बचना सहज काम नहीं था। अशोक ने, धार्मिकता के विचार से ही सही, जो स्वेच्छाचार करना चाहा था, उसका लिखित उदाहरण हमारे सामने उपस्थित है। पर उसका परिणाम क्या हुआ था? क्या मंत्रि-परिषद् का अंत हो गया था और शासन-संघटन संबंधी नियम रद्द हो गए थे? या स्वेच्छाचारी राजा राजसिंहासन से नहीं तो राजत्व से ही वंचित कर दिया गया था? इस संबंध में अशोक का शिलालेख और दिव्यावदान दोनों ही प्रमाण हैं जो इसके विपरीत पक्ष में साक्षी देते हैं, और इसी लिये जो पूर्ण रूप से विश्वसनीय हैं

---

* किसी राजा को राज्यच्युत करने और उसके स्थान पर दूसरा राजा अभिषिक्त करने के संबंध में प्रजा का अधिकार जानने के लिये देखो महा० अश्व०, ४. ८-११।

ऊपर जिस शिलालेख का उल्लेख किया गया है, वह हिंदू भारत के शासन-संघटन संबंधी इतिहास में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण लेख है; इसलिये उसकी कुछ अंतिम पंक्तियों को छोड़कर, जिनका हमारे विषय से कोई संबंध नहीं है, शेष शिलालेख हम यहाँ अविकल देकर साथ ही उसका आशय भी दे देना चाहते हैं। जिन लोगों ने अशोक के शिलालेखों के अनुवाद किए हैं, उनके लिये यह लेख्य एक पहेली ही रहा है और वे इसके संबंध में अनेक प्रकार की मिथ्या कल्पनाएँ करते रहे हैं; क्योंकि उन्हें कभी इस बात का ध्यान ही नहीं हुआ कि अशोक के प्रज्ञापनों में धार्मिक विषयों के अतिरिक्त और भी कोई विषय है। यदि शब्दों के स्वाभाविक भाव के साथ किसी प्रकार का बल-प्रयोग या खींच-तान न की जाय, तो उनका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। जिन लोगों ने इन शिलालेखों का पहले अनुवाद किया था, (और अशोक के प्रज्ञापनों का पहले-पहल अनुवाद करने के लिये भारत को उन लोगों का कृतज्ञ होना चाहिए) उन लोगों ने इस विवादास्पद प्रज्ञापन* के शब्द तो ले लिए थे, पर उनका भाव नहीं ग्रहण किया था; अर्थात्

* स्तंभाभिलेख ४. (दिल्ली-शिवालिक)। मिलाओ दिव्यावदान, पृ० ४३०।

उन्होंने कहा कि अशोक ने राजुक नामक अधिकारियों को स्वतंत्र कर दिया था। पर जिन परिस्थितियों में वह विवादास्पद स्वतंत्रता प्रदान की गई थी, उन परिस्थितियों तथा स्वयं उस स्वतंत्रता का स्वरूप वे नहीं जान सके थे। वह मूल इस प्रकार है—

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आहा सडुवीसतिवस
अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता लजूका मे
बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयता तेसं ये अभिहाले वा
दंडे वा अतपतिये मे कटे किं ति लजूका अस्वथ
अभीता
कंमानि पवतयेवू **जनस जानपदसा** हितसुखं
उपदहेवू।
अनुगहिनेवु चा सुखीयन दुखीयनम् जानिसंति
धंमयुतेन च
वियोवदिसंति **जनं जानपदं** किंति हिदतं च पालतं च
आलाधयेवू ति लजूका पि लघंति पटिचलिटवे
मं पुलिसानि पि मे छंदंनानि पटिचलिसंति ते पि
चकानि वियोवदिसंति येन मं लजूका
चघंति आलाधयितवे अथा हि पजं वियताये धातिये
निसिजितु
अस्वथे होति वियतधाति चघति मे पजं सुखं पलिहट-
वेति

हेवं ममा लजूका कटा **जानपदस** हितसुखाये येन एते अभीता

अस्वथ संतं **अविमना** कंमानि पवतयेवूति एतेन मे लजूकानं ।

अभीहाले व दंडे वा अतपतिये कटे इछितविये हि एसा किति

वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा अव इते पि च मे आवुति*

इसका आशय इस प्रकार है—

"देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी (अशोक का दूसरा नाम) इस प्रकार कहता है—(प्राचीन काल में राजाओं

---

* आवुति या प्रार्थना यह है—

बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे यीते दिंने नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं नासंतं व निझपयितवे दानं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति जनस च वढति विविधे धंमचलने सयमे दानसंविभागेति । मठिया का पाठ Epigraphia Indica २. २५३ ।

के प्रज्ञापनों या घोषणाओं के साथ यह लिखने की प्रथा थी—"इस प्रकार कहता है।" अर्थशास्त्र पृ० ७१)

"मेरे राज्याभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में यह धर्मलिपि (मेरे द्वारा) लिखाई गई थी—

"मेरे राजुकों को* मेरी प्रजा पर, जिसकी संख्या बहुत अधिक है, लाखों है, अधिकार है। जो राजुक अभिहार (युद्ध या दंड), आंतरिक शासन के विभागों के अधिकारी हैं, वे मेरे द्वारा स्वयं ही संरक्षक बनाए गए हैं (राजा के अधिकार से युक्त किए गए हैं; आत्म-पतिये)। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि जिसमें राजुक लोग निश्चित और निर्भय होकर (बिना किसी प्रकार के भय के) सब कार्य कर सकें, अपने आपको जानपद के लिये प्रिय और संतोषकारी बना सकें और उन्हें अनुग्रह प्रदान कर सकें।

"वे सुखी और दुःखी सब आदमियों को जानेंगे। वे जन जानपद को धर्माधिकारियों द्वारा परामर्श दिलावेंगे। इस प्रकार वे राजुक लोग यह लोक और परलोक प्राप्त करेंगे।

"और राजुक लोग मेरी आज्ञाओं का उल्लंघन (लघन्ति = लंघन्ति) करेंगे, तो मेरे अधीनस्थ कर्मचारी (पुरुष ;

---

* देखो § २०४।

मिलाओ अर्थशास्त्र पृ० २४५) मेरे विचारों और आज्ञाओं को कार्य में लावेंगे (छंदं अनानि । मिलाओ आणम् जातक १.३६८ ।) और वे (राजुक) उन प्रांतों (चकानि*) को परामर्श देंगे जो राजुकों की सेवा में रहना चाहते हैं और मेरी सेवा में नहीं† । इसलिये मैं यथार्थ में अपनी संतान (प्रजा) [यहाँ "पजं" शब्द है, जो श्लिष्ट है] वियता दाई (यह "वियता" शब्द भी श्लिष्ट है जिसका अर्थ है—"उत्सुक", "बाहु पसारे हुए", "अपने

---

* बुहलर ने "च कानि" लिखकर उसका अर्थ बतलाया है—"कुछ लोग"। इसका शुद्ध पाठ श्रीयुक्त प्रो० (अब स्व०) रामावतार शर्म्मा ने सूचित किया है। (पियदर्शि-प्रशस्तयः पृ० ३३)।

† ये न मं लजूक चघंति आलाधयितवे (मठिया)। पहले का पाठ येन मं लजूका इत्यादि है। अंतिम शब्द लजूका माना गया है। मठिया के ताम्रलेख (Eprigraphia Indica २, पृ० २५०) में एक अनुस्वार भी मिलता है। बिना अनुस्वार के इसका अर्थ कुछ परिवर्त्तित हो जायगा और इस प्रकार होगा—"और वे प्रांतों को परामर्श देंगे, वे राजुक लोग, जो मेरी सेवा में नहीं रहना चाहते।"

को अलग करने के प्रयत्न में", अर्थात् मुझसे) के हाथ सौंपता हूँ। वह उत्सुक दाई स्वस्थ और शांत होती है। वह मेरी प्रजा का भली भाँति रक्षण करना चाहती है। [यहाँ "सुखं पलिहटवे" भी श्लिष्ट है—अच्छी तरह मेरी संतान को गोद में लेती है।]

"इस प्रकार मेरे राजुकों ने जानपद की तुष्टि और कल्याण के लिये कार्य किया है।

"जिसमें वे लोग स्वस्थ होकर निर्भयतापूर्वक मन में किसी प्रकार का दूषित भाव लाए हुए (अविमना) सब कार्यों का निर्वाह कर सकें। मैं अपने राजुकों को अभिहार और दंड की व्यवस्था करने के लिये स्वतंत्र करता हूँ।"

"मेरी यह वास्तविक कामना है कि व्यवहार और दंड में समानता रहे। पद से च्युत होने पर भी (अव इते=अव रित*) मेरी प्रार्थना† है कि (आदि आदि) ....।"

---

* मिलाओ वाजसनेयी संहिता में का यही रूप। भाषा-विज्ञान की नितांत अवहेलना करते हुए बुहलर ने इसका अनुवाद किया है—"यहाँ तक मेरी आज्ञा है"।

† प्रार्थना के अर्थ में "आवत्ति" शब्द वैदिक और परवर्ती साहित्य में भी आया है। देखो मानियर विलियम्स का कोष १८६६. पृ० १५६. आ—वृ।

जिस नियम के पालन की सम्राट् प्रार्थना करता है, वह यह है कि जिन कैदियों को प्राणदंड मिला हो, उन्हें धार्मिक कृत्य करने की आज्ञा दी जाय। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने की बात यह है कि अब राजा प्रार्थना करता है; जिस प्रकार अन्यान्य लेखों में आज्ञा करता है, उस प्रकार इसमें आज्ञा नहीं करता। अपने अगले शासन-वर्ष में, संभवतः इस लेख पर हस्ताक्षर करने के कुछ ही महीनों के बाद, अशोक ने राजुकों के संबंध का उक्त प्रज्ञापन निकालने के समय तक का अपने समस्त शासन का एक सिंहावलोकन प्रस्तुत किया था। इससे यह जान पड़ता है कि उतने समय को उसने अपने शासन-काल का एक विगत अंश या प्रकरण समझ लिया था; और आगे का जो काल केवल शासन का था, उससे इसे अलग कर दिया था।

इस संबंध में दिव्यावदान में जो कुछ लिखा है, वह ऊपर बतलाया ही जा चुका है। उसके कर्त्ता यह बात स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मंत्रियों ने, जिनमें युवराज भी सम्मिलित था, मिलकर मौर्य सम्राट् को अधिकार से च्युत कर दिया था।

जानपद का प्रजा और लोक से अलग उल्लेख किया गया है, जैसा कि स्तंभाभिलेख ४ और ६ में है; और उन्हीं जानपदों के कल्याण के लिये राजुक लोग स्वतंत्र होना

चाहते थे। इससे यह सूचित होता है कि जानपद मंत्रियों के पक्ष का समर्थन करते थे। भारत के सम्राट के ऐश्वर्य से च्युत हो जाने पर बौद्ध भिक्षु लोग वावेला मचा सकते थे। परंतु वे लोग इसके लिये मंत्रियों को किसी प्रकार दोषी नहीं ठहरा सकते थे। सम्राट् ने देश के कानून के आगे सिर झुकाया था। विनयशील परंतु दृढ़ राधागुप्त* के नेतृत्व में राजनीतिज्ञों ने और दिव्यावदान के अनुसार पौरों ने भी सम्राट के कटु वचन सुन लिए थे (और यह कटुता सम्राट् के शिलालेख की भाषा से भी सूचित होती है) और उन्होंने सम्राट् को अपने राज-सिंहासन और पदवी आदि का भोग करने के लिये तथा अपनी मृदु मूर्खता का प्रचार करने के लिये छोड़ दिया था। परंतु राजनीति-शास्त्र के लेखकों ने भिक्षुओं और साधुओं आदि की वृत्ति धारण करने को यों ही नहीं छोड़ दिया था। एक ने कह ही डाला—"राजा का धर्म दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करना है, सिर मुँड़ाना (बौद्ध भिक्षु बनना) और जटा धारण करना नहीं है†।

---

* संभवतः यह विष्णुगुप्त (कौटिल्य) का वंशज था।

† राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मो न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणं वा।—नीतिवाक्यामृत अ० ५ में उद्धरण।

§ ३१६. हिंदू मंत्रि-परिषद् का यह संक्षिप्त सिंहावलोकन समाप्त करने से पहले हम उनके संबंध में कुछ और बातें भी बतला देना चाहते हैं। प्रत्येक मंत्री के अधीन दो और छोटे या उपमंत्री भी रहा करते थे*। इन तीनों में जो प्रधान होता था, वह महामात्र कहलाता था।

छोटे मंत्री या उपमंत्री

गुप्त-काल के शिलालेखों में भी इन पदाधिकारियों के नामों के साथ महा और कुमार आदि शब्द मिलते हैं। यथा दंडनायक, महादंडनायक और दंडनायक कुमारामात्य। महादंडनायक के अधीनस्थ दो छोटे मंत्रियों में से एक दंडनायक कहलाता होगा और कुमारामात्य दंडनायक सबसे छोटा होता होगा। दूसरा मंत्री महाकुमारामात्य कहलाता होगा अर्थात् वह बड़ा उपमंत्री होता होगा। गुप्त-काल के अन्यान्य शिलालेखों में जो महाप्रधान, महासांधिविग्रहिक

---

* शुक्रनीतिसार २. १०६-११०।

एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै॥
द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये..............।

और महादंडनायक आदि शब्द आए हैं*, उनके संबंध में भी यही अर्थ लगाया जा सकता है।

§ ३२०. मंत्रियों की एक विभाग से दूसरे विभाग में बदली भी हुआ करती थी† । प्रति तीसरे, पाँचवें, सातवें या दसवें वर्ष बदली होती थी‡। क्योंकि कहा गया है कि एक ही व्यक्ति के हाथ में बहुत दिनों तक अधिकार नहीं रहने देना चाहिए। योग्य मंत्री को किसी दूसरे विभाग का अधिकारी बना देना चाहिए और किसी नए योग्य आदमी को उसके स्थान पर नियुक्त करना

---

* देखो फ्लीट कृत Corpus Inscriptionum Indicarum खंड ३. पस्सिम। मि० शुक्रनी० २. १११-१३।

† शुक्रनीतिसार २. १०७-१३।

परिवर्त्य नृपो ह्येतान्युञ्ज्यादन्योऽन्यकर्मणि।
नाधिकारं चिरं दद्याद्यस्मैकस्मै सदा नृपः॥

× × ×

अतः कार्यक्षमं दृष्ट्वा कार्येऽन्ये तं नियोजयेत्।
तत्कार्ये कुशलं चान्यं तत्पदानुगतं खलु॥

‡ उक्त ग्रंथ ११०............ हायनैस्तन्निवर्त्तयेत्।
त्रिभिर्वा पंचभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा।

चाहिए। धौली और जौगड़ के पृथक् प्रज्ञापनोंवाले अशोक के शिलालेखों में त्रैवार्षिक और पंचवार्षिक बदलियों को धर्म या कानून कहा गया है। सम्राट् अशोक के शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रति तीसरे या पाँचवें वर्ष महामात्रों का समस्त वर्ग हट जाता था, बल्कि यों कहना चाहिए कि हटा दिया जाता था। इस क्रिया के लिये पारिभाषिक शब्द 'अनुसंयान" था जिसका अर्थ होता है—निश्चित प्रयाण। ऊपर शुक्रनीति के उद्धरण में आए हुए अनुगत शब्द और रामायण में आए हुए अनुसंयान्तु शब्द से इसका मिलान करना चाहिए। रामायण में* यह शब्द उन रक्षकों के प्रस्थान के संबंध में आया है जो भरत के जाने के मार्ग पर आगे आगे चलने को थे।

---

* २. ७६. १३. कोनो A. S. I. १६१३-१४, पृ० ११३।

वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति। १२

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च।

रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः॥

(शिल्पियों के बाद) रक्षकों को जाने दो जो मार्ग के विषम स्थान जानते हैं।

§ ३२१. राज्याभिषेक आदि अन्यान्य कार्यों की भाँति शासन-कार्यों में हिंदू समाज के चारों वर्णों का प्रतिनिधित्व होता था। नीलकंठ और मित्र मिश्र ने राज्याभिषेक के जो विवरण दिए हैं, उनसे सूचित होता है कि हिंदू शासन-काल के अंतिम दिनों तक चारों वर्णों में से मंत्री लिए जाते थे। महाभारत में सैंतीस मंत्रियों की एक सूची दी है, जिसका चुनाव प्रत्येक वर्ण के प्रतिनिधित्व के सिद्धांत पर है। वह सूची इस प्रकार है—चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य और तीन शूद्र ; और साथ में एक सूत भी है जो मिश्र वर्ण का होता था। इसमें मार्के की बात यह है कि जो वैश्य वर्ण सबसे बड़ा था, उसी वर्ण के सबसे अधिक मंत्री परिषद् में होते थे। शूद्रों और ब्राह्मणों के प्रतिनिधि प्रायः बराबर ही बराबर हैं। जैसा कि उसमें कहा गया है, वास्तविक मंत्रि-परिषद् केवल आठ सदस्यों की होती थी*।

परिषद् में वर्णों का प्रतिनिधित्व

§ ३२२. गुप्त काल में मंत्रियों के नाम बदल गए थे। हम ऊपर बतला चुके हैं कि पुराने शब्द 'दूत' के स्थान पर

* महाभारत (कुंभ०) शांति० अ० ८५, श्लोक ७-११।

'सांधिविग्रहिक' शब्द प्रचलित हो गया था। जान पड़ता है कि यह परिवर्त्तन इसलिये किया गया था कि जिसमें कूट नीति विभाग के मंत्री और दूसरे राजाओं के यहाँ भेजे हुए राजदूत के नामों में गड़बड़ न हो। उस समय के शिलालेखों में हमें 'मंत्री' शब्द नहीं मिलता। यहाँ भी एक स्पष्ट शब्द का व्यवहार करने की इच्छा ही काम करती हुई जान पड़ती है। मालूम होता है कि उसके बदले में दंडनायक या महादंडनायक शब्द का व्यवहार होने लगा था। मनु (११. १००) में सेनापत्य से दंडनेतृत्व पृथक् रखा गया है और वहाँ उसका अर्थ है—शासन-व्यवस्था का नेतृत्व। मनु ने अमात्य के अधिकारों की जो व्याख्या की है (अमात्ये दंड आयत्तः मनु ७. ५६) उसे देखते हुए इस दंडनेतृत्व से प्रधान मंत्री का अधिकार सूचित होता है। इसलिये महादंडनायक दंड के नेतृत्व से युक्त और शासन विभाग का मंत्री अथवा प्रधान मंत्री होगा। फ्लीट ने (C. I. I. ३. पृ० १६ की पाद-टिप्पणी) इसका अर्थ दिया है—सेनाओं का नेता। परंतु इस अर्थ की अपेक्षा हमारा ऊपर किया हुआ अर्थ अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है ; क्योंकि शिलालेखों में जिन मंत्रियों के नाम के साथ यह उपाधि मिलती है, वे, जैसा कि उनकी और दूसरी उपाधियों से सूचित होता है,

गुप्त-काल में मंत्रियों के नाम

नागरिक विभाग के अधिकारी थे, सैनिक विभाग के नहीं थे। इसके अतिरिक्त उन दिनों जो सैनिक मंत्री होता था, वह बलाधिकृत् (उक्त ग्रंथ पृ० २१०) और महाबलाधिकृत् (पृ० १०६) कहलाता था।

ऊपर बदली या अनुसंधान के संबंध में जो नियम बतलाया गया है, उसके उदाहरण उस समय के लेखों में आए हुए मंत्रियों के पद-नामों में भी मिलते हैं। समुद्र गुप्त के बड़े शिलालेख (C. I. I. ३. १०) में हरिषेण के संबंध में, जिसका सम्राट् से बहुत अधिक संबंध था और जिसका उसी की संगति के कारण काव्य करने की ओर प्रेरित होना उल्लिखित है, कहा गया है कि वह महादंडनायक था। वह पहले कूट नीति विभाग का छोटा मंत्री था। परंतु जिस समय हरिषेण का काव्य शिला पर खोदा गया था, उस समय वह महादंडनायक नहीं रह गया था। उस समय उस पद पर तिलभट्टक नामक एक और विद्वान् था। पुराने मंत्रियों के साथ इतना सौजन्य दिखलाया जाता था कि राजकीय लेखों आदि में उन्हें अपनी पुरानी राजकीय पदवियों का व्यवहार करने दिया जाता था। पहले किसी समय हरिषेण का पिता महादंडनायक था; और समुद्रगुप्त के लेख में उसके नाम के साथ यह पदवी लगी हुई है।

§ २२३. गुप्त काल के राजाओं के दानों के संबंध में जो लेख हैं, **उन** पर राजा के हस्ताक्षर के साथ-साथ सांधिविग्रहिक मन्त्री के भी हस्ताक्षर हैं। बृहस्पति ने कहा है कि दानपत्रों पर सांधिविग्रहिक के हाथ का लिखा होना चाहिए—ज्ञातं मया*, अर्थात् मैंने इसे जान लिया। बृहस्पति का धमशास्त्र उसी समय का लिखा हुआ है और उसका यह विधान महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि जिन दानपत्रों पर उस मंत्री या उसके पद का नाम है, वे वास्तव में उसके विभाग में पहुँचे थे और उसे ज्ञात थे। इस प्रणाली से उस समय के मंत्रियों की राष्ट्र-संघटन संबंधी स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बहुत छोटे से दान के लिये भी मंत्रि-परिषद् की स्वीकृति की आवश्यकता होती थी; और उसकी ओर से वह स्वीकृति सांधिविग्रहिक देता था, जिसे कदाचित् इस बात का विचार करना पड़ता था कि वह दान पर-राष्ट्र विभाग की दृष्टि से ठीक है या नहीं। दान के गृहीता लोग विदेशों से आए हुए भी हो सकते थे। वे शत्रु-पक्ष के गुप्तचर भी हो

दानपत्रों पर मंत्रियों के हस्ताक्षर

---

* वीरमित्रोदय पृ० १६२ में उद्धरण।
ज्ञातं मयेति लिखितं सन्धिविग्रहलेखकैः।

सकते थे। इसलिये पर-राष्ट्र विभाग को इस बात का अधिकार प्राप्त होता था कि वह किसी दान को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सके। उसके स्वीकृत करने पर परिषद् के और सदस्य तो उसे स्वीकृत कर ही लेते थे। दानपत्रों आदि पर राजा के अतिरिक्त उस मंत्री या उसके सहायक के भी हस्ताक्षर होते थे जो अंतिम बार उसे मान्य करता था। उसे "दूतक" या रवाना करनेवाला कहा गया है। सन् ५१० ईसवी के मुताबिक संवत् में राजा हस्तिन्* ने दान संबंधी जो ताम्रलेख लिखवाया था, वह पहले तो महा-सान्धि-विग्रहिक विधुदत्त के द्वारा स्वीकृत हुआ; और तब महाबलाधिकृत् नागसिंह ने उसे स्वीकृत किया है, जिसने दूतक के रूप में हस्ताक्षर किए हैं। हस्तिन् के समय के एक और राजा का दानलेख मिला है† जिस पर एक आदमी के हस्ताक्षर तो हैं, पर उसकी सरकारी पदवी नहीं लिखी है। उस पर राजा के अतिरिक्त किसी मंत्री के भी हस्ताक्षर नहीं हैं और लिखा है कि यह राजा की मौखिक आज्ञा से लिखा गया है। इस दान-लेख पर किसी दूत के भी हस्ताक्षर नहीं हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है

---

* C. I. I. ३. १०८।

† उक्त ग्रंथ, पृ० ११५।

कि इस दान के संबंध में राजा ने कोई लिखित आज्ञा नहीं दी थी और इसी लिये इसका लेख्य मंत्रि-परिषद् में भी नहीं गया था। संभव है कि यह दान राजा ने अपनी निजी भूमि में से दिया हो।

§ ३२४. यह बात प्रायः सभी लोग जानते हैं कि सिंहल में भी भारत के समान ही बहुत सी संस्थाएँ थीं। वास्तव में दोनों की सभ्यता या संस्कृति एक ही थी और इस दृष्टि से सिंहल भी भारत का ही एक अंश था। हमारे एक सिंहल-निवासी मित्र ने हमसे कई बार कहा है कि बिना सिंहल के इतिहास के भारत का इतिहास कभी पूरा हो ही नहीं सकता। यह मानना पड़ेगा कि उनका यह कथन सत्य है। हमारे सामने इस बात का एक उदाहरण भी है। बाहर की ओर से दबाव पड़ने और अंदर की ओर से क्षीण होने के कारण यहाँ भारत में तो हमारी बहुत सी संस्थाएँ नष्ट हो गईं; पर चारों ओर समुद्र से घिरे हुए सिंहल द्वीप में वे संस्थाएँ अपेक्षाकृत अधिक समय तक बनी रहीं। यहाँ तक कि बहुत परवर्त्ती काल में अर्थात् ईसवी दसवीं शताब्दी के मध्य में भी वहाँ के राजा की प्रकाशित की हुई जो आज्ञाएँ हैं, वे राजा और उसकी सभा या परिषद् दोनों के नामों से युक्त हैं। उन पर परिषद् के सभी मंत्रियों के हस्ताक्षर हैं। उदाहरण के लिये पाठक हमारे मित्र

सिंहल में इस प्रथा के उदाहरण

श्रीयुक्त विक्रमसिंह जी द्वारा संपादित वे प्राचीन लेख आदि देख सकते हैं जो महाराज अभासलमेवन के संबंध के हैं और जो Epigraphia Zeylanica के दूसरे खंड के पहले पृष्ठ में प्रकाशित हैं। उसमें समस्त परिषद् मिलकर वह दान स्वीकृत करती है। उसमें लिखा है—

"स-परिषद् राजा द्वारा आज्ञा होने के कारण हम सब लोग अर्थात् मनितिल किलियेम और गंगुल्हुसु अगबोयिम......और कवसिलंगा गवयिम उपयुक्त कृत्य करते हुए (अभिषेकादि) स्वीकृत करते हैं (अमुक जिले के इत्नंरुगम नामक ग्राम के लिये नीचे लिखी हुई रिआयतें ......"(पृ० ५.)

——

बत्तीसवाँ प्रकरण

धर्म और न्याय की व्यवस्था

§ ३२५. राजा को अभिषेक के समय प्रतिज्ञा तो करनी ही पड़ती थी और पौर-जानपद तथा परिषद् की ओर से उसके लिये अनेक प्रकार के बंधन और नियंत्रण आदि भी होते ही थे; पर इन सब से अधिक शक्तिशाली हिंदुओं का धर्मशास्त्र था जिसके संबंध में बार बार यह कहा गया है कि वह धर्म राजा से भी बढ़कर और सब राजाओं का राजा है*। मनु ने तो राजा पर अर्थ-दंड या जुरमाना तक करने की व्यवस्था की है†। धर्म-सूत्रों और धर्मशास्त्रों

राजा पर धर्मशास्त्र का अधिकार

---

* देखो व्यवस्थादर्पण में का उद्धरण।

† "यह एक निश्चित नियम है कि जहाँ साधारण आदमी को एक कार्षापण दंड हो सकता हो, वहाँ राजा को एक हजार कार्षापण अर्थ-दंड होना चाहिए"। ८. ३३६।

में राजा के अधिकारों और कर्त्तव्यों का इस प्रकार निरूपण हुआ है, मानों वह धर्म का एक अंग ही है— उनमें राजधर्म या राजाओं के लिये निरूपित धर्मों के प्रकरण ही अलग हैं। जिन दिनों हिंदू एकराजता अपने सर्वोच्च शिखर पर थी, उन दिनों भी न तो मानव धर्मशास्त्र ने और न अर्थशास्त्र ही ने राजा को धर्म से उच्च स्थान दिया था। अर्थशास्त्र के अनुसार तो राजा को नए कानून या धर्म बनाने का अधिकार था, पर मनु के अनुसार उसे यह अधिकार भी नहीं प्राप्त था। परंतु अर्थशास्त्र भी यही कहता है कि राजा केवल व्यवस्था स्थापित करनेवाले धर्म या कानून बना सकता है*; पर ऐसे धर्म या कानून नहीं बना सकता, जो स्थापित धर्म के विरुद्ध हों अथवा जिनसे उसे मनमाना कार्य करने का अधिकार मिल सकता हो।

कैंबिसेस के समय फारस के न्यायाधीशों ने एक ऐसा कानून बनाया था जिसके अनुसार फारस का "राजा या

कार्षापणः भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यो सहस्रमिति धारणा ॥

* अर्थशास्त्र १. ३. ३. (पृ० ११)

बादशाह जो कुछ चाहता था, वह कर सकता था*।" पर हिंदू न्यायाधीशों और धर्मशास्त्रकारों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था देना असंभव था। यहाँ तक कि अर्थशास्त्र का कर्त्ता कौटिल्य भी अपने राजा से कहता है कि स्वेच्छाचारी राजा का नाश हो जाता है†।

न्याय और शासन पृथक् पृथक् थे

§ ३२६. हिंदू एकराजत्व शासन-प्रणाली में न्याय-विभाग सदा शासन विभाग से पृथक् रहता था। साधारणतः उसका रूप तो स्वतंत्र होता ही था, भावतः भी वह स्वतंत्र ही था। इसका कारण यह था कि धर्मशास्त्र के ज्ञाता लोग ही न्यायाधीश बनाए जाते थे और धर्मशास्त्रकार या धर्मशास्त्री लोग ब्राह्मण ही होते थे। बहुत प्राचीन काल (ई॰ पू॰ १०००—ई॰ पू॰ ५००) में हिंदू राजा ने एक नया रूप धारण किया था; और उसी समय ब्राह्मणों ने भी ब्राह्मण ग्रंथों का पाठ करनेवाला अपना नम्र स्वरूप छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। केवल धर्मकृत्य करनेवाले ब्राह्मण उन ब्राह्मणों से पृथक् हो गए थे, जो राजनीतिक क्षेत्र में रहकर साधारण जीवन व्यतीत करते थे।

---

* रालिन्सन कृत Herodotus २, पृ० ४६८।
† अर्थशास्त्र १. ३. ३. पृ० ११।

शतपथ ब्राह्मण में ये दोनों विभाग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, राज्याभिषेक हो जाने के उपरांत पहले पुरोहित या धर्माधिकारी राजा को अभिवादन करता हुआ उसकी अधीनता सूचित करता है; और तब समाज के क्षत्रिय आदि दूसरे वर्णों के साथ साधारण ब्राह्मण अलग ऐसा करता है। पुरोहित और अ-पुरोहित ब्राह्मणों के मध्य में जो वर्ग था, वह "महाशाल" कहलाता था (§ २८२) और वह अध्ययन तथा कर्म करनेवाला था। इस वर्ग के ब्राह्मण धर्म, राजनीति तथा इसी प्रकार के और शास्त्रों के अध्ययन में अपना समय लगाते थे। जातकों में हमें पुरोहित, राजनीतिज्ञ और ब्राह्मण मंत्री मिलते हैं, जो राजनीति के भी बहुत अच्छे ज्ञाता होते थे और जिनका नैतिक आचरण भी बहुत श्रेष्ठ होता था। न्यायाधीश लोग इसी वर्ग के हुआ करते थे। साधारण कानून के अनुसार जो अपराधी कोई अपराध करता था, वह उसके लिये राजा द्वारा दंडित होता था। परंतु धर्मशास्त्र के अनुसार वह उस पाप के लिये भी दंड का भागी होता था, जो उस अपराध के साथ लगा होता था*। अंतिम

---

* इसका विवेचन मेरे "टैगोर व्याख्यान" (Tagore Lectures) १० में हुआ है।

प्रकार का दंड देने का अधिकार ब्राह्मणों के हाथ में था। यह व्यवस्था केवल इसलिये नहीं थी कि वह इस विषय में निष्णात होता था, बल्कि इसलिये थी कि अपराधियों में ब्राह्मण भी हुआ करते थे; और उनका न्याय उन्हींके समान तथा ऐसे लोगों के द्वारा होना आवश्यक था जो उन्हें धर्म से च्युत होने पर निर्भय रूप से दंड दे सकते थे। इसलिये धर्म संबंधी शासन या व्यवस्था के लिये ब्राह्मणों का होना नितान्त आवश्यक था। जातकों से पता चलता है कि इस विषय का अधिकार पुरोहितों के हाथ में था। इसके सिवा ब्राह्मण न्यायाधीश अन्यान्य न्यायाधीशों के साथ, जो संभवतः अ-ब्राह्मण होते थे, बैठकर लौकिक व्यवहार या मुकदमे भी देखा और सुना करते थे। शासन में साधारण कानून और धर्म संबंधी कानून दोनों मिलकर धीरे धीरे एक हो गए और ब्राह्मण न्यायाधीश के हाथ में चले गए; और अब उस ब्राह्मण पर राजा का किसी प्रकार का दबाव या प्रभाव नहीं पड़ सकता था।

सभा

§ ३२७. कानूनी अदालत का वही पुराना वैदिक नाम "सभा" था। जिस प्रकार मंत्रि-परिषद् में उसकी मौलिक स्वतंत्रता के चिह्न वर्त्तमान थे, उसी प्रकार सभा में भी थे। न्याय कार्य में न्यायाधीशों को सदा समाज से सहायता मिला करती थी। न्यायाधीशों और समाज के लोगों के योग से सभा का संघटन

होता था, जिसे आजकल की भाषा में अदालत के "ज्यूरी" कह सकते हैं।

सम्मतियों का निराकरण करने के लिये उनकी संख्या ताक या विषम हुआ करती थी (देखो पहला खंड, § १०६, पृ० १७६ की दूसरी पाद-टिप्पणी) और धर्म या कानून के अनुसार अपनी सम्मति देने के लिये वे बाध्य होते थे। जो ज्यूरी या "वृद्ध" कुछ नहीं बोलता था, या धर्म के विरुद्ध सम्मति देता था, वह नीतिभ्रष्ट समझा जाता था*।

मृच्छकटिक में न्यायालय का जो दृश्य है और जिसे हम ईसवी तीसरी शताब्दी का रचित समझते हैं, उसमें ज्यूरी का उल्लेख है†। ज्यूरी के कार्यों का विवरण

---

* नारद (प्रस्ता०) ३. १८. (न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।)

" या तो न्याय संबंधी सभा में बिलकुल जाना ही न चाहिए और या वहाँ जाकर धर्म से युक्त सम्मति देनी चाहिए। जो मनुष्य मौन रहता है या धर्म के विरुद्ध सम्मति देता है, वह पाप करता है।" नारद (प्रस्ता०) ३. १०. जोली द्वारा संपादित।

† मृच्छकटिक, नवाँ अंक।

चिंतासक्तनिमग्नमंत्रिसलिलं।

शुक्रनीति में भी आया है; और बृहस्पति तथा नारद में भी आया है*। उसकी मुख्य बातें ध्यान देने योग्य हैं। कहा गया है कि ज्यूरी ७,५ या ३ होने चाहिएं†; और यह भी कहा गया है कि वे लोग मुकदमे की जाँच करनेवाले या कार्यपरीक्षक होते हैं और उनका अध्यक्ष, जो न्यायाधीश

---

* शुक्रनीतिसार ४. ५. २६-२७।

लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पंच त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा।
श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्तव्याः सुविचक्षणाः॥

\+ \+ \+ \+

साथ ही देखो उक्त ग्रंथ—१४, १७।

यदा विप्रो न विद्वान्स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु।
वक्ताध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्यपरीक्षकाः॥

उक्त ग्रंथ ४०। वीरमित्रोदय पृ० ४२ में बृहस्पति। मिलाओ नारद (प्रस्ता०) २. ४५। "जो न्यायाधीशों द्वारा अपराधी प्रमाणित हो चुका हो, वह धर्मशास्त्रानुसार राजा के द्वारा दंडित होगा। न्याय ज्यूरी पर ही निर्भर करता है।" नारद, (प्रस्ता०) ३. ६।

† शुक्रनीतिसार ४. ५. २६-२७।

होता है, "वक्ता" कहा गया है। यह भी कहा गया है कि राजा शास्ता या दंड देनेवाला होता है। मृच्छकटिक में न्यायाधीश कहता है—हम लोगों को तो केवल यही अधिकार है कि यह निर्णय कर दें कि यह अपराधी है या नहीं। बाकी सब बातें तो राजा के हाथ में हैं*। न्यायालय के सामने जो मुकदमे आते थे, उनकी सत्यता अथवा असत्यता की जाँच करना ज्यूरी का एक पृथक् कार्य था (कर्म प्रोक्तं पृथक् पृथक—बृहस्पति)। इस प्रकार यद्यपि न्याय राजकीय न्यायाधीशों के द्वारा ही होता था, तथापि इस बात की पूरी व्यवस्था रहती थी कि न्यायाधीश किसी के साथ पक्षपात न कर सके।

स-परिषद् राजा न्यायाधीश

§ ३२८. हम ऊपर बतला चुके हैं कि स्वयं राजा मुकदमे नहीं सुन सकता था†। वह अपनी परिषद् के साथ बैठकर मुकदमे सुनता था, जिसमें सर्व-प्रधान न्यायाधीश भी हुआ करता था। अपील के लिये यही सबसे बड़ा न्यायालय होता था और इसमें केवल अपीलें ही सुनी जाती

---

* आर्य चारुदत्त! निर्णये वयं प्रमाणम्। शेषे तु राजा। नवाँ अंक।

† नारद, प्रस्ता० १-३५—प्राड्विवाकमते स्थितः। बृहस्पति, १. २४। सभ्यशास्त्रमते स्थितः। (स्मृतिचंद्रिका)

थीं*। यह बात नीचे दिए हुए आचार्यों के उद्धरणों तथा और भी स्पष्टतापूर्वक उस मुकदमे से सूचित होती है जिसका निर्णय राजा यशस्कर ने किया था और जिसका उल्लेख राजतरंगिणी (अ० ६) में है। अपील करनेवाला सभी नीचे की अदालतों में हारता गया था और अब उसने राजा यशस्कर के दरबार में अपील की थी। उसने अपनी परिषद् तथा राजधानी के उन जजों के साथ बैठकर वह मुकदमा सुना था, जो पहले भी वह मुकदमा सुन चुके थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजा द्वारा नए मुकदमे बिल्कुल शुरू से सुनने की प्रथा बहुत आरंभिक काल में ही परित्यक्त कर दी गई थी; और इस बात के बहुत ही थोड़े प्रमाण मिलते हैं कि वैदिक काल के उपरांत कभी ऐसा हुआ था।

जिस प्रकार राजा स्वयं व्यक्तिश: शासन नहीं कर सकता था, उसी प्रकार, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वह स्वयं अकेला न्याय भी नहीं कर सकता था। यह केवल धर्मशास्त्रकारों की ही सम्मति नहीं है, राष्ट्र-संघटन संबंधी नियम बनानेवाले नीतिकारों की भी यही सम्मति

---

* नारद, प्रस्ता० १. ७. बृहस्पति, १. २६. याज्ञवल्क्य, २-३०।

है, जिन्होंने राजा द्वारा अभियोगों का निर्णय होने का निषेध किया है* ।

§ ३२६. सिद्धांततः यही माना जाता था कि राजा सदा न्यायालय में उपस्थित रहता है, चाहे वह वहाँ उपस्थित रहता था और चाहे नहीं रहता था† । जिस लिखित निर्णय पर न्यायालय की मुद्रा होती थी, वह निर्णय-पत्र राजा द्वारा दिया हुआ माना जाता था। जिस समय किसी व्यक्ति को न्यायालय में उपस्थित होने के लिये बुलाया जाता था, उस समय भी यही माना जाता था कि उसे राजा ने बुलाया है । समस्त धर्मशास्त्रों में बराबर यही लिखा मिलता है कि सब कानूनी कार्रवाइयाँ राजा करता है; और

न्याय राजा के नाम पर होता था

---

* शुक्रनीतिसार ४. ५. ५६ ।

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः ॥
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ।
नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ॥
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन ॥

† वीरमित्रोदय, पृ० ३६-४२ । मनु ८. १. १६ ।

टीकाकार उसकी व्याख्या करते हुए बतलाते हैं कि यहाँ राजा से अभिप्राय राजकीय अधिकारी का है।

कार्रवाई लिखी जाती थी

§ ३३०. मुकदमों की सब कार्रवाइयाँ लिखकर रखी जाती थीं। इस प्रकार के लेखों का उल्लेख जातकों तक में मिलता है। जातक खंड ३, पृ० २६२ में "विनिश्चय पुस्तक" का उल्लेख है। जातक खंड ५, पृ० १२५ में स्वर्ण-फलकों पर खुदे हुए कार्रवाइयों के नियमों का उल्लेख है। स्वयं धर्मशास्त्रों से ही इस बात का प्रमाण मिलता है कि उनके समय में इस प्रकार के "विनिश्चय" लिखकर रखे जाते थे*।

उचित निर्णय और मुकदमों की कमी

§ ३३१. जातकों के समय में न्याय-व्यवस्था का जो आदर्श था, उसके परिणाम-स्वरूप मुकदमों की संख्या बहुत घट गई थी†। यदि न्यायालयों में अन्याय होता, तो भी उसका ठीक यही परिणाम होता। परंतु इस प्रकार की बातों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उस

---

* वशिष्ठ, पृ० ५५।

† जातक, दूसरा खंड, पृ० २।

समय धर्मशास्त्रानुमोदित जो व्यवस्था प्रचलित थी, उसे देखते हुए मुकद्दमों में अन्याय होना असंभव था*।

§ ३३२. पाली त्रिपिटक में प्रसंगवश एक मुकदमे के फैसले का कुछ जिक्र आ गया है। उससे न्याय की शुद्धता पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है और सूचित होता है कि कानून के संबंध में वास्तविक नियम क्या था।

सुदत्त और कुमार जेत

विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६. ४. ६. में उस अभियोग का उल्लेख है जो अनाथपिंडिक ने राजकुमार जेत के विरुद्ध उपस्थित किया था। इसका निर्णय उस समय के अवध की राजधानी श्रावस्ती में हुआ था। चुल्लवग्ग में इस मुकदमे का उल्लेख यह दिखलाने के लिये नहीं हुआ है कि न्यायालयों में किस प्रकार के असाधारण न्याय हुआ करते थे, बल्कि यह दिखलाने के लिये हुआ है कि अनाथपिंडिक में महात्मा बुद्ध के प्रति कितनी अधिक श्रद्धा और भक्ति थी। सुदत्त नामक एक व्यक्ति था, जो अनाथों पर दया करने के कारण अनाथ-पिंडिक कहलाता था। वह एक साधारण नागरिक या

---

* मनु ७. २८. बृहस्पति २. २८. मिलाओ मृच्छ-कटिक में उल्लिखित राज्यक्रान्ति।

गृहपति था और बहुत सम्पन्न व्यापारी था। उधर जेत राजवंश का एक कुमार था। जेत का एक उपवन या बाग था, जो न तो नगर से बहुत दूर था और न बहुत पास। वहाँ सहज में आना-जाना हो सकता था .... एकांत वास के लिये वह बहुत अच्छा स्थान था। अनाथ-पिंडिक ने महात्मा बुद्ध को राजगृह से निमंत्रित करके बुलाया था; और वह चाहता था कि मैं उनके लिये जेत का यह उपवन खरीद लूँ। उसने कुमार जेत के पास जाकर कहा—"कुमार, आप अपना उपवन मुझे आराम बनाने के लिये दे दें।" जेत ने उत्तर दिया—"हे भद्र, जब तक उस पर करोड़ों (मुद्राएँ) न बिछें, तब तक वह बिक नहीं सकता।" अनाथपिंडिक बोला—"अच्छी बात है। मैं उसे इस मूल्य पर लेता हूँ। अब वह मेरा हो गया।"

जेत ने कहा—"नहीं गृहपति, इतनी सी बात से वह तुम्हारे हाथ बिक नहीं गया।"

इस पर दोनों में विवाद हुआ। सुदत्त कहता था कि वह उपवन बिक गया, और मैंने उसे ले लिया। पर जेत कहता था कि मैंने उसे नहीं बेचा। इस पर वे दोनों प्रधान न्यायाधीशों के पास गए और उनसे कहा कि इस बात का निर्णय होना चाहिए कि इतनी बात-चीत हो चुकने पर वह उपवन बिक गया या नहीं। प्रधान न्यायाधीशों ने निर्णय

किया कि जब कुमार ने उसका मूल्य निर्धारित कर दिया, तब वह बिक गया* ।

---

* चुल्लवग्ग ६. ४. ६ ।

उपसङ्कमित्वा जेतं कुमारं एतद् अवोच : देहि मे अय्यपुत्त उय्यान आराम कातुम् ति । अदेय्यो गहपति आरामो अपि कोटिसन्थरेना ति । गहितो अय्यपुत्त आरामो ति । न गहपति गहितो आरामो ति । गहितो न गहितो ति वोहारिके महामत्ते पुच्छिसु । महामत्ता एवं आहंसु यतो तया अय्यपुत्त अग्घो कतो गहितो आरामो ति ।

श्री रहीस डेविड्स और ओल्डेनबर्ग ने Sacred Books of the East २०. पृ० १८७-१८८ में इसका अनुवाद इस प्रकार दिया है—"वह कुमार जेत के पास गया और उससे उसने कहा—'आर्यपुत्र, आप अपना उद्यान मुझे आराम बनाने के लिये दे दें ।' 'गृहपति, वह उसके बराबर धन देने पर भी (यदि उसकी सारी भूमि पर बिछाने भर को भी मुद्राएँ मिलें, तो भी) नहीं मिल सकता ।' 'आर्यपुत्र, मैं उसे इसी मूल्य पर लेता हूँ ।' 'नहीं गृहपति, मैं तुमसे सौदा नहीं करना चाहता था ।' इसके बाद उन लोगों ने न्यायाधीशों के पास जाकर पूछा कि इन बातों से सौदा हो गया या नहीं । न्यायाधीशों

जब इस प्रकार अनाथपिंडिक के पक्ष में निर्णय हो गया, तब उसने उस उपवन के कुछ अंश पर स्वर्ण-मुद्राएँ बिछा दीं। इस पर उस उपवन का जो बाकी बचा हुआ अंश था, वह कुमार जेत ने बिना मूल्य लिए ही अनाथपिंडिक को दे दिया।

एक राजकुमार और एक साधारण नागरिक में विवाद उपस्थित होता है। वे दोनों न्यायालय में जाते हैं। न्यायालय राजकुमार के विरुद्ध निर्णय करता है और राज-कुमार वह निर्णय मान लेता है। ये सब तो बिलकुल साधारण सी बातें हैं। इस अभियोग पर लोगों का ध्यान इसलिये नहीं आकृष्ट हुआ था कि इसमें किसी चीज का दाम लगाया गया था और वह दाम देना मंजूर कर लिया गया था, न इसलिये ध्यान आकृष्ट हुआ था कि इससे न्यायाधीशों की स्वतंत्रता सूचित होती थी; बल्कि, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इसलिये इसे अधिक महत्त्व दिया गया था कि इससे एक उदार नागरिक की महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धा और भक्ति प्रकट होती थी। इसमें जिस कानूनी कार्रवाई का जिक्र है, वह बहुत ही साधारण और नित्य होने-

---

ने निर्णय किया—'आपने जो मूल्य नियत कर दिया, उस पर वह आराम बिक गया।'

वाली बात है। हिंदुओं में असंख्य गेस्कोएन* हो गए हैं; परंतु इसलिये उनका कहीं उल्लेख नहीं है कि अपने सम-कालीनों की दृष्टि में बड़े बड़े न्याय करके भी उन्होंने कोई असाधारण कार्य नहीं किया था। जो कुछ किया था, वह बिलकुल साधारण और कर्त्तव्य समझा जाता था।

§ ३३१ क. प्राड्विवाक दो हैसियतों से काम करता था। एक तो वह सर्वप्रधान न्यायाधीश होता था; और

धर्म और न्याय विभाग के मंत्री

दूसरे वह न्याय विभाग का मंत्री होता था। धर्म-शास्त्र विभाग का मंत्री "पंडित" हुआ करता था। उसके कार्यों से

---

* सर विलियम गेस्कोऐन एक बहुत प्रसिद्ध अँगरेज न्यायाधीश हो गए हैं, जो हेनरी चतुर्थ के शासन-काल में सन् १४०१ में इँग्लैंड के सर्वप्रधान न्यायाधीश बनाए गए थे। वे बहुत स्वतंत्र प्रकृति के न्यायाधीश थे। कहते हैं कि एक बार स्वयं प्रिंस आफ वेल्स या राजकुमार ने, जो बाद में राजा हेनरी पंचम हुआ था, गेस्कोएन के न्यायालय में कुछ अशिष्ट व्यवहार किया था, जिसके लिये उन्होंने उसे कारावास का दंड दिया था। परंतु यह किंवदंती सी ही है और अनेक इतिहासज्ञ इस घटना की सत्यता में संदेह करते हैं।—अनुवादक।

तुलना करते हुए हम यहाँ पर न्याय विभाग के मंत्री के कार्यों का कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि न्याय विभाग के मंत्री और धर्म या कानून विभाग के मंत्री को क्रम आदि में अन्यान्य नागरिक अधिकारियों की अपेक्षा श्रेष्ठता दी जाती थी। परिषद् में प्रमुख स्थान प्रतिनिधि को मिलता था। उसके उपरांत प्रधान का स्थान होता था, जो परिषद् का अध्यक्ष होता था। इसके उपरांत क्रम से युद्धमंत्री या सचिव और पर-राष्ट्र-विभाग के मंत्री का स्थान होता था, जो युद्ध और शांति के लिये उत्तरदायी होते थे। और तब धर्म या कानून विभाग के मंत्री या पंडित का और फिर न्याय विभाग के मंत्री का स्थान होता था।

प्राड्विवाक एक तो प्रधान न्यायाधीश के रूप में राजधानी के सर्व-प्रधान न्यायालय के आसन पर बैठता था; और दूसरे न्याय विभाग के मंत्री के रूप में ज्यूरी का बहुमत जानकर धर्म या कानून के अनुसार यह बतलाता था कि अभियुक्त वास्तव में अपराधी है या नहीं; और तब उसके अनुसार राजा को परामर्श देता था। शुक्रनीति में इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है--

"प्राड्विवाक को ज्यूरी या सभ्यों के साथ सभा में उनकी सम्मति के बहुमत से स्वयं अपने बनाए हुए और परंपरा से प्राप्त धर्म के अनुसार व्यवस्था देनी चाहिए।

उसे यह निश्चय करना चाहिए कि किस स्थान पर मानुष प्रमाण यथा साक्षी, लेख्य, भूत-काल और भोग आदि का व्यवहार होना चाहिए, किस अवस्था में शपथ या दिव्य आदि का व्यवहार होना चाहिए, किस अवस्था में युक्ति, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान आदि का प्रयोग होना चाहिए, कहाँ बहुमत का ध्यान रखना चाहिए और कहाँ न्याय-सिद्धांत काम में लाया जाना चाहिए। इस प्रकार विचार करके और सब बातों का पता लगाकर तब प्राड्विवाक राजा को संबोधन करे—परामर्श दे* ”

इसके विपरीत धर्म या कानून विभाग का जो मंत्री होता था, जिसे और स्थानों में धर्माधिकारी कहा गया है और शुक्रनीति में जिसे पंडित कहा गया है, उसके कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाए गए हैं—

---

* साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्छलैर्भूतैश्च मानुषान्।
स्वेनोत्पादितसंप्राप्तव्यवहारान् विचिन्त्य च ॥
दिव्यसंसाधनाद्वापि केषु किं साधनं परम्।
युक्तिप्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोकशास्त्रतः ॥
बहुसम्मतसंसिद्धान् विनिश्चित्य सभास्थितः।
ससभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं संबोधयेत् सदा ॥
शुक्रनीति २. ९६-९८।

"पंडित को इस बात का विचार करना चाहिए कि लोक में किन प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्मों का व्यवहार होता है, उनमें से कौन धर्मशास्त्रों में मान्य हैं और कौन से धर्म या कानून न्याय-सिद्धांत के विरुद्ध नहीं हैं और कौन से धर्म समाज तथा न्याय-सिद्धांत के विरुद्ध हैं; और तब राजा से उसे ऐसे धर्मों या कानूनों की सिफारिश करनी चाहिए जो इस लोक में भी और परलोक में भी सुखकर हों* ।"

इन बातों से पता चल सकता है कि हिंदुओं में कानून या धर्म में किस प्रकार सुधार किए जाते थे। हिंदू धर्म या कानून साधारणतः परंपरागत माना जाता था ; और ऐसी दशा में सिद्धांत की दृष्टि से राज्य स्वयं और प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार के परिवर्त्तन आदि नहीं कर सकता था। समय समय पर प्रत्यक्ष रूप से नए कानून बनाकर, पुराने कानूनों में परिवर्त्तन किया जाता था†, साधारणतः उनके

---

* वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्म्माः के लोकसंश्रिताः ।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥
लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च ।
नृपं संबोधयेत् तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥

शुक्रनीति २. ६६-१०० ।

† देखो परिशिष्ट "घ" ।

नए और स्पष्ट अर्थ किए जाते थे, और प्राचीन ऋषियों आदि के नाम पर नई नई स्मृतियाँ आदि बनाई जाती थीं, यथा नारद स्मृति। इन सबके अतिरिक्त कानून विभाग के दो मंत्री हुआ करते थे। समाज की परिस्थितियों और कल्याण के विचार से जो कानून काम में लाए जाने के योग्य नहीं समझे जाते थे, उन्हें वे मंत्री लोग अस्वीकृत कर देते थे। प्रचलित धर्मों या कानूनों के संबंध में वे सर्वसाधारण के विचारों का भी ध्यान रखते थे। कानूनों की जाँच की इस प्रथा और सार्वजनिक सम्मति के आदर का यह परिणाम होता था कि पुराने कानूनों में सुधार होते थे और तब वे नए कानून के रूप में काम में लाए जाते थे। बहुत सभव है कि हिंदू धर्मशास्त्रों पर एक दूसरी से भिन्न और प्राचीन धर्मों में संशोधन आदि करनेवाली जो अनेक टीकाएँ आदि हैं, वे धर्माधिकारियों या पंडितों द्वारा बनी हों।

सभा

§ ३३३. हिंदू राज्यतंत्र में सबसे बड़ी और महत्त्व की बात यह है कि उसके समस्त इतिहास में धर्म को सर्वप्रधान स्थान दिया गया है। जिन दिनों समाज या प्रजा की सभा के द्वारा न्याय होता था, उन दिनों यही बात थी; और बाद में जब न्याय का काम राजकीय सभा के द्वारा होने लगा, तब भी बराबर यही बात बनी रही। सभा का इतिहास वैसा नहीं है, जैसा

राज-दरबार का है। सभा का जन्म राजा के यहाँ से नहीं हुआ था, बल्कि वह वैदिक-कालीन सार्वजनिक सभा से निकली थी। स्वयं इतिहास के कारण ही इस बात की कोई संभावना नहीं रह जाती थी कि राजा सभा को अपनी अनुचरी बना सके अथवा उसे पद-दलित कर सके। जिस समय न्याय की व्यवस्था करना राजा का अधिकार और कर्त्तव्य हो गया, उस समय भी वह अपने इस कर्त्तव्य का पालन राज्याभिषेक के समय की और मानी हुई प्रतिज्ञा के अनुसार करता था। उसे देश के धर्म की व्यवस्था बहुत ही सचेत होकर करनी पड़ती थी। फिर ब्राह्मण-मंडली भी वहीं उपस्थित रहती थी, जो शारीरिक या आर्थिक बल को धर्म से आगे नहीं बढ़ने देती थी। जहाँ किसी अनुचित हस्तक्षेप की आशंका होती थी, वहाँ के लिये यह विधान प्रस्तुत रहता था कि राजा को सदा प्राड्विवाक की सम्मति के अनुसार चलना चाहिए*।

———

* प्राड्विवाकमते स्थितः।—नारद। देखो ऊपर इस खंड का पृ० २३८। न्याय-व्यवस्था की और विस्तृत बातें जानने के लिये हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे इस ग्रंथ के रचयिता के टैगोर ला लेक्चर्स (Tagore Law Lectures) देखें।

तेंतीसवाँ प्रकरण

राज कर

§ ३३४. राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से राज-कर के संबंध में हिंदू सिद्धांत बहुत अधिक महत्त्व का है। राज-कर धर्मशास्त्रों के अनुसार निश्चित था और पवित्र सार्वजनिक धर्म के अनुसार यह भी निश्चित था कि कौन कौन सा कर किस हिसाब से लिया जाना चाहिए। इसका परिणाम यह होता था कि शासन-व्यवस्था चाहे जिस प्रकार की होती थी, परंतु राज-कर के संबंध में राजा या शासक का मन कभी विचलित न होता था। इसलिये राज-कर के संबंध में राजा और प्रजा में कोई झगड़ा ही खड़ा नहीं हो सकता था। झगड़े और अत्याचार की जो खास जड़ थी, उसका बचाव इस प्रकार कर दिया गया था।

निश्चित राज-कर

ऐतिहासिक प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि राज-कर संबंधी जो नियम थे, उनका सब अवस्थाओं में पूर्ण

रूप से पालन होता था। उदाहरण के लिये शातवाहन राजवंश की महारानी बलश्री का शिलालेख देखना चाहिए, जिसमें यह घोषित किया गया है कि उसका पुत्र पवित्र धर्म-व्यवस्था के अनुसार राज-कर लिया करता था। दूसरे अनेक शिलालेखों से भी यही बात सूचित होती है*। साहित्य में ऐसे कई विलक्षण उदाहरण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि राज-कर के संबंध में धर्म द्वारा निश्चित जो सिद्धांत थे, उनका उल्लंघन नहीं होता था। सम्राट् चंद्रगुप्त को सेल्युकस के साथ युद्ध करने के लिये धन की आवश्यकता थी। उसने और उसके महामात्य कौटिल्य ने धन संग्रह करने के लिये अपना सारा बुद्धि-बल लगा दिया। धर्म के

कानूनी प्रभाव

---

* Archaeological Survey Report of Western India खंड ४, पृ० १०८। Epigraphia Indica खंड ८, पृ० ६०। धर्मोपजितकर विनियोग करस। १,५. पृ० ४४, पंक्ति १४। साथ ही मिलाओ महाभारत, शान्तिपर्व, ७१.१५ का यह कथन—"जो लोभी राजा ऐसे कर एकत्र करने के लिये, जो शास्त्रों से अनुमोदित नहीं हैं, मूर्खतापूर्वक अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, वह स्वयं अपने ही साथ अन्याय करता है।"

अनुसार जो राज-कर प्राप्त होता था, वह इस कार्य के लिये यथेष्ट नहीं था। जैसा कि अर्थशास्त्र से प्रमाणित होता है, उन लोगों को कुछ और विलक्षण उपायों का आश्रय लेना पड़ा था। इससे एक ओर तो धर्म का महत्त्व सूचित होता है और दूसरी ओर यह सिद्ध होता है कि धर्म द्वारा निश्चित राज-कर के संबंध में कितनी कठिनाइयाँ थीं। चंद्रगुप्त ने अपनी प्रजा से प्रणय की भिक्षा की थी, अर्थात् कहा था कि आप लोग मुझ पर अपना प्रेम सूचित करने के लिये धन दें। उसने देव-मंदिरों से भी धन उगाहा था*। पुष्यमित्र के समय में पाणिनि (५. ३. ६६) पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने परिहासपूर्वक लिखा है कि मौर्य लोग पूजन के लिये देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित करके धन एकत्र करना चाहते थे†। जैनों में परंपरा से यह प्रवाद चला आता है कि चाणक्य ने राजकोष की पूर्त्ति करने के लिये घटिया चाँदी के आठ करोड़ कार्षापण बनवाए थे। इन सब घटनाओं से एक बहुत बड़ी आवश्यकता और साथ ही धर्म के संबंध में पूरा पूरा आदर प्रकट होता है।

---

* अर्थशास्त्र, पृ० २४१-४२।

† इंडियन एन्टिक्वेरी, सन् १६१८, पृ० ५१ में जायसवाल का लेख।

§ ३३५. राज-कर से जो आय होती थी, उसपर मंत्रि-परिषद् का पूरा पूरा अधिकार होता था; और उसी को राज-कर एकत्र करने का भी अधिकार प्राप्त था। ई० पू० चौथी शताब्दी तक में मेगास्थिनीज के कथन के आधार पर (§ ३१६) हम देखते हैं कि आय-व्यय आदि पर मंत्रि-परिषद् का अधिकार था, जिसका इतिहास वहीं से आरंभ नहीं होता है, बल्कि वैदिक काल के रत्नियों और रत्नी कोषाध्यक्ष से होता है। भारद्वाज का प्रमाण भी बिलकुल स्पष्ट है (§ ३१७) और वह ई० पू० चौथी शताब्दी से भी पहले का है। उसके कथनानुसार भी मंत्रि-परिषद् ही राज-कर एकत्र करती थी और समस्त व्यय भी उसी के हाथ में था।

§ ३३६. यदि राज-कर के मान और संग्रह का प्रश्न छोड़ दिया जाय, तो भी हिंदू राजनीति-शास्त्र के अनुसार राजा को जो कर दिया जाता था, वह उसकी शासन संबंधी सेवाओं का वेतन माना जाता था। महाभारत में कहा है—

कर राजा का वेतन होता था

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥

अर्थात् "षष्ठांश बलि कर (शुल्क अथवा आयात और निर्यात कर), अपराधियों से मिलनेवाला जुरमाना

और उनका अपहृत धन आदि जो कुछ शास्त्रों के विधानों के अनुसार प्राप्त हों, वे सब तुम्हारे वेतन के रूप में होंगे और वही तुम्हारी आय के द्वार या राज-कर होंगे* ।"

नारद ने भी व्यवस्था दी है—

"राजाओं को निश्चित प्रथाओं के अनुसार जो कुछ धन प्राप्त हो और भूमि की उपज का जो षष्ठांश प्राप्त हो, वह सब राज-कर होगा और प्रजा की रक्षा करने के पुरस्कार-स्वरूप राजा को मिलेगा† ।"

यह सिद्धांत उतना ही पुराना है, जितना कि स्वयं कौटिल्य का अर्थशास्त्र है (३०० ई० पू०); बल्कि यों कहना चाहिए कि वह ई० पू० ३०० से भी अधिक पुराना है, क्योंकि वह अर्थशास्त्र में उद्धृत किया गया है। राज-कर राजा का वेतन समझा जाता था; और यह वेतन उस सिद्धांत के अनुसार निश्चित था जिसका ऊपर (§ २६७) उल्लेख हो चुका है और जिसके अनुसार राजा तथा प्रजा में पारस्परिक संबंध ठीके के रूप में निश्चित होता था। उस सिद्धांत के अनुसार दोनों में वह ठीका करानेवाला दलाल स्वयं

---

* महाभारत, शांतिपर्व ७१. १०।

† नारद १८. ४८ (जोली द्वारा संपादित)।

स्रष्टा होता था। स्रष्टा ने ही लोगों से मनु का निर्वाचन करने की सिफारिश की थी।

§ ३३७. राजनीति-शास्त्र के आचार्यों ने इस वेतनवाले सिद्धांत को और भी विकसित करके उसे ऐसा रूप दिया था जिसे हम राज-कर का दैवी सिद्धांत कह सकते हैं। हम सबसे अच्छा यही समझते हैं कि इस सिद्धांत के संबंध में स्वयं शास्त्रकार का ही वचन यहाँ उद्धृत कर दें। वह वचन इस प्रकार है—

राज-कर का दैवी सिद्धांत

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥

"ब्रह्मा ने राजा को बनाया; यद्यपि उसने राजा को स्वामी के रूप में बनाया, पर वास्तव में वह प्रजा का पालन करनेवाला सेवक ही है। प्रजा की निरंतर रक्षा और वृद्धि करने के बदले में राजा को राज-कर के रूप में उसका अंश या वेतन मिलता है*।"

दूसरे शब्दों में हम यही बात इस रूप में कह सकते हैं कि प्रजा के स्वामी-सेवक के निर्वाह के लिये स्वयं ब्रह्मा ने उसका वेतन निश्चित किया था। वह उस वेतन से अधिक

---

* शुक्रनीतिसार, १. १८८।

नहीं ले सकता था; क्योंकि उसे अधिक लेने का अधिकार ही नहीं था। प्रजा, जो वास्तव में स्वामी थी, राजा का रक्षण करने के लिये बाध्य थी; क्योंकि राज्याभिषेक के समय उसकी ओर से पुरोहित ने राजा को वचन दिया था (§ २२४)—"हम तुम्हारे निर्वाह के लिये तुम्हारा उचित अंश (स्वभाग) तुम्हें दिया करेंगे।"

मानव धर्मशास्त्र में दी हुई युक्तियाँ यहाँ ऐसे रूप में कर दी गई हैं जिससे राजा के सेवकत्व को दैवी उद्गम का रूप प्राप्त हो गया है। ही .से ही हीरा कटता है। उशनस् और भारद्वाज के देश में वह सिद्धांत कभी ठहर ही नहीं सकता था, जिसके अनुसार राजा में दैवी व्यक्तित्व स्थापित होता था और जिसके कारण उसे स्वेच्छाचार करने का बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त हो जाता था। वह प्राचीन इतिहास की प्रवृत्ति के विरुद्ध पड़ता था। इसलिये मनुष्यों के गुरु मनु की बात काटने के लिये हिंदुओं ने देवताओं के गुरु शुक्र को ढूँढ़ निकाला।

रक्षा और राजनिष्ठा

§ ३३८. रक्षा के बदले में वेतन के रूप में राज-कर देने का सिद्धांत राष्ट्र-संघटन में इतना पैवस्त हो गया था कि यदि उस रक्षा के कार्य में कुछ भी त्रुटि होती थी, तो यह माना जाता था कि प्रजा की जितनी हानि हो, उतना ही वह राजा के वेतन के अंश में से वापस पाने की अधिकारिणी है। जैसा

कि हम पहले बतला चुके हैं, यह वापसी या तो अनुग्रह के रूप में होती थी और या नगद धन देने के रूप में (§ २८१)। प्रजा समझती थी कि सेवक राजा ने अपने कर्त्तव्य का ठीक ठीक पालन नहीं किया है। वह समझती थी कि हमारी पूरी पूरी रक्षा नहीं की गई है; और जैसा कि अर्थशास्त्र (१३. १, पृ० ३९४) में कहा है, राजा को इस बात की धमकी देती थी कि हम तुम्हारा देश छोड़कर शत्रु राजा के देश में चले जायँगे। दूसरे शब्दों में प्रजा अपने राजा को यह धमकी देती थी कि हम तुम्हारी निष्ठा छोड़कर दूसरे राजा के प्रति निष्ठ होंगे। महाभारत भी जहाँ प्रजा की ठीक ठीक रक्षा न कर सकनेवाले राजा को छोड़ने की स्वीकृति देता है, वहाँ यही बात कहता है*। "ऐसा राजा उस जहाज के समान है, जिसमें छेद हो

---

* राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।४१।

× × × ×

प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु॥ ४३॥
षडेतान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥ ४४॥

गया हो और जिस पर बैठे रहने से आपत्ति की आशंका हो। वह ऐसे नापित के समान है, जो वन में जाने की कामना करता हो (संभवतः साधु होने के लिये)। उस नापित ने अपने स्वामी और जजमानी को छोड़ दिया है और अपनी नौकरी का ठीका तोड़ दिया है। वह नापित छोड़ देने के योग्य है और उसके स्थान पर दूसरा नापित लगा लिया जाना चाहिए।" इसी प्रकार जो राजा अपने कर्त्तव्य का ठीक ठीक पालन नहीं करता, वह भी छोड़ देने के योग्य है। ज्यों ही राजा अपने कर्त्तव्य के पालन में अयोग्य सिद्ध होता है, त्यों ही यह बात प्रमाणित हो जाती है कि राजा और प्रजा के संबंध का विच्छेद हो गया। जिस क्षण राजा रक्षा संबंधी अपने कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ होता है, उसी क्षण राजनिष्ठा के बंधन का

अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥ ४५॥
१२, ५७ (= कुंभकोणम् संस्करण का ५६)

यहाँ जिस मनु का उल्लेख है, वह राजनीति शास्त्र के राजधर्म नामक ग्रंथ का कर्त्ता जान पड़ता है। यह ग्रंथ संभवतः किसी शाखा का था और कौटिल्य ने इसी को मानव के नाम से उद्धृत किया है।

अन्त माना जाता है और प्रजा को इस बात का अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह अपने लिये दूसरा सेवक-स्वामी चुन ले। राज़-कर संबंधी सिद्धांत और राजा की धर्मशास्त्रानुमोदित स्थिति को देखते हुए स्वभावत: इसके अतिरिक्त और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता था।

§ ३३६. धर्मशास्त्रकारों ने राज-कर संबंधी जो सिद्धांत या नियम निश्चित किए हैं, वे उन उद्देश्यों से बिलकुल मिलते हैं, जिन उद्देश्यों से हिंदू राज्य की सृष्टि हुई थी। और वे उद्देश्य इस प्रकार हैं—पोषण, कृषि, संपन्नता और क्षेम या कल्याण (§ २२७.)।

राज-कर संबंधी नियम

राजा के लिये मुख्य राज-कर उसका वही निश्चित भाग या अंश था जो उसे कृषि की उपज में से दिया जाता था। बाजार में बिकनेवाले माल में से उसका अंश एक दशमांश अथवा परिस्थितियों के अनुसार इसी के लगभग होता था*। इसके अतिरिक्त राज-कर के कुछ और भी साधन होते थे, जिन्हें आजकल आयात और निर्यात संबंधी आय

* मिलाओ मनु ७. १३०-३२। गौतम १०. २४-२७। वशिष्ठ १६. २६-२७। आपस्तंब २. १०. २६. ६। विष्णु. ३. २२-२५। बौधायन १. १०. १८. १।

कहते हैं और जिन्हें प्राचीन काल में शुल्क कहते थे। इनकी दर आदि निश्चित करने में राजा को थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता अवश्य थी। परवर्त्ती धर्मशास्त्रों में कुछ नियम निश्चित करके इसका भी नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन फिर भी वे कोई पूरी सूची नहीं बना सकते थे; और कोई लोभी या अर्थ-संकट में पड़ा हुआ राजा अपने निकास के लिये कोई न कोई मार्ग निकाल ही लेता था। नंदों पर इस बात का अपवाद लगाया जाता है कि उन्होंने चमड़ों और परों पर भी कर लगाया था। इससे यह स्पष्ट है कि पहले इन पदार्थों पर कर नहीं लगता था। जैसा कि अर्थशास्त्र से प्रमाणित होता है*, मगध साम्राज्य और हिमालय के प्रदेशों में चमड़ों और परों का बहुत बड़ा व्यापार हुआ करता था। जब देश में आनेवाले इन पदार्थों पर चंद्रगुप्त के पूर्वजों ने कर लगाया, तब लोग उनपर लोभी होने का अपवाद लगाने लगे। जान पड़ता है कि साधारणतः ऐसे ही अवसरों पर और विशेषतः राजा के भाग संग्रह करने पर राज-कर संबंधी नियमों का विकास और निश्चय हुआ था।

---

* अर्थशास्त्र ११. २।

हिंदू राज-कर के सिद्धांत साधारणतः इस प्रकार हैं—

(१) राज-कर एकत्र करने में राजा को कभी लोभ या तृष्णा के वश होकर स्वयं अपने तथा दूसरों के मूल का उच्छेद नहीं करना चाहिए* ।

(२) प्रजा पर इस प्रकार कर लगाना चाहिए, जिसमें आगे चलकर उसमें और भार वहन करने और आवश्यकता पड़ने पर अधिक भारी भार वहन करने की शक्ति बनी रहे । कहा है—"हे भारत, यदि बछड़े को अधिक दूध पीने दिया जाय, तो वह बलवान् होकर अधिक (भारी भार) वहन करने और कष्ट सहने के योग्य होता है । राजा को उक्त सिद्धांत का ध्यान रखकर प्रजा-रूपी गौ से कर-रूपी दूध दुहना चाहिए । बहुत अधिक दूध दुहना मानों बछड़े को दुर्बल बनाना है, जिससे अंत में स्वयं दूध दुहनेवाले की ही हानि होती है† ।"

---

* महाभारत १२. ८७. १८ ।
नोच्छिंद्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया ।

† उक्त ग्रंथ और पर्व, ८७. २०-२१ ।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ।
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत ॥

(३) जिस राज्य की प्रजा पर बहुत अधिक करों का भार होता है, वह बड़े बड़े काम नहीं कर सकता। बड़े बड़े काम वही राज्य कर सकता है, जिस पर कर का साधारण भार होता है और जिसका राजा अपने राज्य की रक्षा का ध्यान रखता हुआ किफायत से शासन की सब व्यवस्था करता है*। प्रजा उस राजा का विरोध करती है, जो शासन में बहुत अधिक व्यय करता है (बहुत अधिक खाता है†)।

(४) सब से अधिक जोर इस सिद्धांत पर दिया गया है कि राज-कर ऐसा होना चाहिए जो प्रजा को भारी न जान पड़े। राजा को अपना आचरण उस मधु-

---

न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्॥

* उक्त ग्रंथ और पर्व, ४१. २२।

यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः।
संजातमुपजीवन्स लभते सुमहत्फलम्॥

† उक्त ग्रंथ और पर्व, ८७. १९।

प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्।

ब्राह्मण काल तक में "खादन" शब्द का व्यवहार पारिभाषिक रूप में राज-कर के लिये होता था।

मक्खी के समान रखना चाहिए, जो वृक्षों को बिना कष्ट पहुँचाए उनसे मधु एकत्र करती है* ।

(५) जब राज्य अधिक संपन्न होने लगे, तब धीरे धीरे राज-कर बढ़ाए जाने चाहिएँ ।

यह क्रिया इतनी सौम्य या कोमल होनी चाहिए जिसमें राज्य में किसी प्रकार की विकलता न उत्पन्न होने पावे† ।

राज-कर संगृहीत करने के संबंध में नीचे लिखे सिद्धांत थे—

(६) कर उपयुक्त स्थान, उपयुक्त काल और उपयुक्त रूप में लगाए जाने चाहिएँ‡ । उनके संग्रह का ढंग कष्ट-

---

* महाभारत १२, अ० ८८. ४ ।
मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम् ।

† उक्त ग्रंथ और पर्व ८८. ७-८ ।
अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत् ।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥
दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारं विवर्धयेत् ।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥

‡ उक्त ग्रंथ और पर्व, अ० ३८. १२ ।
न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत् ।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥

दायक नहीं होना चाहिए। गौ दुह लो, पर उसके स्तन मत नोचो* ।

शिल्प आदि पर कर लगाने के संबंध में ये सिद्धांत थे—

(७) बिना इस बात का विचार किए कि कोई माल तैयार करने में कितना परिश्रम लगता है और कितना माल तैयार होता है, कभी कर नहीं लगाना चाहिए† । इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि बिना उपयुक्त लाभ से प्रेरित हुए कोई किसी उद्योग में नहीं लगता‡ । शिल्प की वस्तुओं पर कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कितना लाभ होने पर कारीगर कोई चीज तैयार करने में लगा रहेगा, जिससे राजा को भी लाभ होता रहेगा + ।

---

* उक्त ग्रंथ और पर्व ८८. ४ ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ।

† उक्त ग्रंथ और पर्व, ८७. १६ । श्रीयुक्त एम० एन० दत्त का अनुवाद ।
फलं कर्म च सम्प्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ।

‡ उक्त ग्रंथ, पर्व और अ०, फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्संप्रवर्तते ॥

+ मनु ७. १२६ ।

(८) प्रत्येक शिल्प के संबंध में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कितना सामान लगता है, कितनी लागत पड़ती है, शिल्पी को वह वस्तु बनाते समय अपने निर्वाह के लिये कितने धन की आवश्यकता होती है और उस शिल्पी की अवस्था या परिस्थिति क्या है* ।

आयात पर कर लगाने के संबंध में ये सिद्धांत थे—

(९) वाणिज्य की वस्तुओं पर कर लगाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि किसी चीज की बिक्री का दाम क्या है, खरीद का दाम क्या है, कितनी दूर से आई है, उसके आने में कितना व्यय पड़ा है, कुल लागत कितनी आई है और

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथा वेद्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥
यथा राजा च कर्त्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ ।
संवेद्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः ॥

* महाभारत १२. ३७ ।

उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत् ।
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत् ॥

उसके लिये व्यापारी को कितनी जोखिम उठानी पड़ी है* ।

(१०) जो वस्तुएँ राष्ट्र के लिये दुःखदायक हों अथवा जो निरर्थक और केवल शौक के लिये हों, उन पर अधिक कर लगाकर उनका आयात कम करना चाहिए† ।

(११) जिन आनेवाली वस्तुओं से राष्ट्र को बहुत अधिक लाभ होता हो, उन्हें शुल्क से मुक्त कर देना चाहिए‡ ।

(१२) जो वस्तुएँ अपने देश में बहुत ही कम मिलती हों और जो आगे और अधिक उत्पत्ति करने में बीज रूप के काम देनेवाली हों, वे भी बिना शुल्क लिए अपने देश में आने देनी चाहिएँ + ।

(१३) कुछ पदार्थ ऐसे भी थे जिनका निर्यात वर्जित था और देश में जिनका अधिक आयात करने के लिये

---

* उक्त० १३. साथ ही मिलाओ मनु ७. १२७ ।
विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् ॥

† अर्थशास्त्र २. २१ (पृ० ११२) ।
राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत् ।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम् ॥

‡ और + देखो ऊपर की टिप्पणी ।

किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। उदाहरणार्थ—

(१) अस्त्र-शस्त्र आदि।

(२) धातु।

(३) सेना के काम में आनेवाले रथ आदि।

(४) अप्राप्य या दुष्प्राप्य पदार्थ।

(५) अनाज।

(६) पशु आदि*।

(१४) कुछ अवस्थाओं में बहुत अधिक विशिष्ट कर भी लगाए जाते थे। जो लोग विदेश से अच्छी सुराएँ आदि लाते थे अथवा घर में अरिष्ट आदि बनाते थे, उन पर इतना अधिक कर लगाया जाता था जिससे राज्य में बननेवाली ऐसी चीजों की कम बिक्री का हरजाना निकल आता था†।

---

* शस्त्र-वर्म-कवच-लोह-रथ-रत्न-धान्य-पशूनामन्यतमम-निर्वाह्यम् आदि। अर्थशास्त्र २. २१. ३६ (पृ० १११)।

† अर्थशास्त्र २. २५, पृ० १२१।

अराजपण्याः पञ्चकं शतं शुल्कं दद्युः।
सुरकामेदकारिष्ट-मधुफलाम्लाम्लशीधूनां .च॥
अह्नश्च विक्रयं व्याजौ ज्ञात्वा मानहिरण्ययोः।
तथा वैधरणं कुर्यादुचितं चानुवर्तयेत्॥

तात्पर्य यह कि आर्थिक परिस्थितियों का सब स्थानों में ध्यान रखा जाता था। उत्पादक बल दबाया या घटाया नहीं जाता था। मूल धन पर नहीं, बल्कि लाभ पर कर लगता था। जिन वस्तुओं से नए-नए शिल्पों का विकास होने की संभावना होती थी, उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था। जिन निर्यातों के कारण मूल्य बहुत बढ़ जाता था और इस प्रकार कृत्रिम संपन्नता बढ़ती थी, उनका निर्यात घटाने का प्रयत्न किया जाता था। साधारण शिल्पों के लिये कोई विशेष संरक्षण नहीं होता था और कर धीरे धीरे तथा शक्ति के अनुसार बढ़ाए जाते थे, कष्टदायक रूप में नहीं बढ़ाए जाते थे।

चौंतीसवाँ प्रकरण

शासन में अर्थनीति और भूस्वामित्व का सिद्धांत

§ २४०. धर्मशास्त्रों में कर संबंधी जो प्रकरण हैं, उनमें कुछ इस तरह की बातें भी बतलाई गई हैं कि कुछ विशिष्ट लोगों का, जो आर्थिक शत्रु समझे जाते हों, दमन करना चाहिए।

आर्थिक शत्रु

महाभारत में कहा गया है कि वेश्याओं, जूए के अड्डों और जुआरियों, नाट्यशालाओं तथा इसी प्रकार दूसरों का मनोविनोद करके धन कमानेवालों पर पूरा शासन रखना चाहिए*; भिक्षुकों और चोरों को देश से निकाल देना चाहिए†; और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें महाजन

---

* महाभारत १२. ८८. १४-१७।

† महाभारत १२. १७-२४।

लोग बहुत अधिक सूद न लेने पावें* । कृषकों की ऐसे लोगों से विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए† ।

भिक्षुक और उनके मठ आदि भी आर्थिक दृष्टि से आपत्तिजनक और विघ्न-कारक समझे जाते थे ।

"वानप्रस्थों के अतिरिक्त इधर-उधर घूमनेवाले और लोग, सजातों या गाँववालों को छोड़कर और कोई (संघ) (अर्थात् बौद्धों आदि के संघ) व्यापारियों के अतिरिक्त और लोगों के बनाए हुए समूह या संघ आदि देश में स्थित या स्थापित नहीं होने दिए जायँगे और न आराम या विहार (धर्म संबंधी भवन) आदि बनने दिए जायँगे‡ ।" जो लोग अपने परिवारवालों के भरण-पोषण और निर्वाह आदि की बिना पूरी

---

* महाभारत, १२. ८८. २६ ।

† नटनर्त्तन-गायन-वादक-वाग्जीवन-कुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः । अर्थशास्त्र २. १. (पृ० ४८)

‡ वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजितभावः सजातादन्यः सङ्घस्सामुत्थायकादन्यस्समयानुबन्धो वा नास्य जनपदमुपनिवेशेत । न च तत्रारामविहारार्थाः शालास्स्युः २. १, पृ० ४८ ।

मिलाओ § २३२ में राज्याभिषेक के प्रकरण में का "सजात" ।

व्यवस्था किए ही समाज को छोड़कर साधु या भिक्षु आदि हो जाते थे, उनके साथ भी यही व्यवहार किया जाता था। उन्हें पकड़कर दंड दिया जाता था। जो लोग धर्मानुसार गृहस्थ धर्म का पालन कर चुकते थे, केवल उन्हीं लोगों को प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकार होता था*।

§ ३४१. शासन-कला में शासक को सबसे पहले यह बतलाया जाता था कि देश का शासन और स्वतंत्रता अर्थनीति या वार्ता पर निर्भर करती है।

शासन में वार्ता

(क) "कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता।......
तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदंडाभ्याम्।"
—अर्थशास्त्र पृ० ३।

---

* पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वस्साहसदण्डः; स्त्रियं च प्रव्राजयतः (जो लोग स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलाते थे, उन्हें भी कठोर-तम दंड दिया जाता था)। लुप्तव्य-वायः प्रव्रजेदापृच्छ्य धर्मस्थान्। अन्यथा नियम्येत। अर्थशास्त्र पृ० ४८। गृहस्थी का परित्याग करने के संबंध में धर्मसूत्रों में कुछ विशिष्ट बंधनकारक नियम दिए गए हैं।

और स्थानों में भी कहा है—

(ख) "अर्थानर्थौ वार्तायाम् ।"

(ग) "वार्तया धार्यते सर्वम् ।"

(घ) "वार्ता वै लोकसंश्रया ।"

(क) कृषि, पशुपालन और वाणिज्य-व्यवसाय सब मिलकर वार्ता शास्त्र या विज्ञान हैं। कोश और दंड या सैनिक बल के द्वारा ही स्वयं अपने राज्य में तथा शत्रुओं के राज्य में सफलता होती है अथवा वे वश में किए जा सकते हैं।

(ख) अर्थानर्थौ वार्तायाम्। (अर्थशास्त्र २, पृ० ७) वार्ता में ही अर्थ भी है और उसके विपरीत अनर्थ भी है।

(ग) वार्तया धार्यते सर्वम्। (महाभारत वनपर्व १. ५०) वार्ता ही सब राजनीतिक संघटन को धारण करती है।

(घ) वार्ता वै लोकसंश्रया। (कामंदक ४. २७,) वार्ता ही समाज का आश्रय है।

इसलिये शासकों को वार्ता पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ता था। वार्ता शास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार शासन करना उनका कर्त्तव्य होता था। वास्तव में यह उनका सबसे पहला कर्त्तव्य होता था; और

राज्याभिषेक के समय राजा से जो नीचे लिखी बात कही जाती थी, उसके अनुसार ऐसा होना बिलकुल ठीक ही था—

"तुम्हें यह राज्य कृषि, क्षेम, संपन्नता और पालन के लिये दिया जाता है।"

हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य में जो 'पालन' शब्द आया है, वह राजा के दो कर्त्तव्यों का सूचक है—अभिवृद्धि करना और सब प्रकार से रक्षा करना। वैदिक मंत्र में केवल अभिवृद्धि का भाव है और सब प्रकार से रक्षा करना उसका स्वाभाविक परिणाम होता है। इसी लिये वार्ता शास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार सब काम करने की नीति का विधान किया गया था।

§ ३४२. देश को आर्थिक दृष्टि से संपन्न करने के लिये वणिकों और व्यापारियों के प्रति विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। इस संबंध में ये विधान किए गए थे—

वणिकों के प्रति नीति

"व्यापारियों की उत्पादन-शक्ति को सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। वे लोग राज्य को बलवान् बनाते हैं, कृषि की वृद्धि करते हैं और व्यापार बढ़ाते हैं। इसलिये बुद्धिमान् राजा लोग उनके साथ बहुत

ही दया और प्रीति का व्यवहार करते हैं। ....
राज्य में व्यापारियों और वणिकों से बढ़कर और कोई संपत्ति नहीं होती* ।"

यह भी कहा है—

"जिन लोगों ने धन अर्जित किया हो, राजा को उनका सदा सम्मान करना चाहिए। उन्हें भोजन, पान और आच्छादन आदि प्रदान किए जाने चाहिएँ। प्रत्येक राज्य में धनी वर्ग उसका एक अंग होता है† ।"

---

* अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा ॥ ३८ ॥
तस्माद्गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद्विचक्षणः।
दयावानप्रमत्तश्च करान् संप्रणयन्मृदून् ॥ ३६

× × × ×

न ह्यतः सदृशं किञ्चिद्धनमस्ति युधिष्ठिर।
—महाभारत १२. ८७. ३६-४०।

† महाभारत १२. ८८.२६-३०।
धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः......
अङ्गमेतन्महद्राज्ये धनिनो नाम भारत।

§ ३४३. प्रायः बड़े बड़े शिल्प राज्य के हाथ में होते थे। उनका संचालन राजकीय विभागों द्वारा होता था।

राजकीय शिल्प

अर्थशास्त्र और मानव धर्मशास्त्र दोनों में आकर (खान) और कर्मांत (चीज़ें बनाने का काम) का उल्लेख है। देश के आर्थिक शासन के लिये राज्य को उनसे शिल्प संबंधी प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता था और साथ ही उनसे राज्य की आय भी बहुत अधिक बढ़ जाती थी। कम से कम इतना तो अवश्य होता था कि इस व्यवस्था से राजनीतिज्ञों को युद्ध की तैयारी करने अथवा इसी प्रकार के और कामों के लिये प्रजा से प्रणय (कर) की भिक्षा नहीं करनी पड़ती थी।

§ ३४४. हिंदू राजनीतिज्ञ लोग प्रत्यक्ष कर लगाना पसंद नहीं करते थे। उत्पन्न पर जो कर लगता था, उसके

नीति का मूल सिद्धांत अप्रत्यक्ष कर था

अतिरिक्त वे और किसी प्रकार का प्रत्यक्ष कर नहीं लगाते थे; उनके यहाँ इस प्रकार की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। यदि बहुत सूक्ष्म रीति से विवेचन किया जाय, तो अंत में यही सिद्ध होता है कि उत्पन्न पर लगनेवाला कर भी अप्रत्यक्ष ही था। उत्पन्न कर के बाद जो दूसरा बड़ा और अप्रत्यक्ष कर था, वह आयात संबंधी शुल्क था। निर्यात संबंधी शुल्क बहुत कम थे और वे

कर की दृष्टि की अपेक्षा शासन की दृष्टि से ही अधिक लगाए जाते थे। साधारणतः जिन पदार्थों का देश से बाहर जाने देना अभीष्ट नहीं होता था, उन्हीं पर कर लगाया जाता था। राजकीय आय का दूसरा बहुत बड़ा साधन आकर या खानों का व्यवसाय था। चंद्रगुप्त के समय में और उससे पहले खानों का सब काम प्रायः राज्य ही करता था। पर मानव धर्मशास्त्र ८. ३९. में खानें सर्व-साधारण के लिये छोड़ दी गई हैं। पर हाँ, उनके लिये कर की जो व्यवस्था है, वह अवश्य कठोर है—अधिक कर लगाया गया है। खानों की उपज पर प्रति शत ५० कर की व्यवस्था की गई है; और इसके लिये सिद्धांत यह रखा गया है कि खान एक ऐसा कोष है जिस पर राजा का भी उतना ही अधिकार है, जितना उसे ढूँढ़ निकालनेवाले का है। अन्यान्य विषयों की भाँति इस विषय में भी संरक्षण के बदले में कुछ कर होना उचित और नियमानुमोदित है; क्योंकि राजा ऊपर की भूमि का भी अधिपति है और उसके नीचे की भूमि का भी (भूमेरधिपतिर्हि सः—मनु ८. ३९)। मानव धर्मशास्त्र की व्याख्या करते हुए मेधातिथि ने कहा है कि यद्यपि कोई यह नहीं जानता कि भूमि के अंदर क्या है और सरकार को उसकी बहुत ही थोड़ी रक्षा करनी पड़ती है, तथापि समस्त भूमि की प्रबल शत्रु द्वारा अपहृत होने की संभावना रहती है, इसलिये

आकर या खानें

उसकी रक्षा करने के बदले में राजा अपना अंश पाने का अधिकारी है* ।

§ ३४५. इसके द्वारा हम भूस्वामित्व संबंधी महत्त्वपूर्ण हिंदू सिद्धांत पर पहुँचते हैं जो कर से संबद्ध है। हिंदू राजनीति में तो इन दोनों में कुछ भी संबंध नहीं रखा गया है, परंतु भारतीय राजनीति आदि की विवेचना करनेवाले आधुनिक विद्वानों ने जो विवाद उठाया है, उसमें ये दोनों विषय परस्पर संबद्ध कर दिए गए हैं। इनमें से कुछ लेखकों ने यह बात बहुत ही दृढ़तापूर्वक कही है कि हिंदू राजनीति के अनुसार भूमि पर सदा हिंदू राजा का स्वामित्व रहता था। पर वास्तविक बात यह है कि उन लोगों का

भूस्वामित्व के संबंध में हिंदू सिद्धांत

---

* बुह्लर ने (S.B.E. २५,पृ०२६० की पादटिप्पणी) मेधातिथि का एक अपूर्ण वाक्य दिया है और उसका ऐसा अभिप्राय बतलाया है जो वास्तव में उसका अभिप्राय नहीं है। उसका मुख्य अंश उसने छोड़ दिया है। समस्त वाक्य इस प्रकार है—अत्र हेतूरक्षणादिति यद्यपि क्षितौ निहतस्य केनचिदज्ञानान्न राजकीयरक्षोपयुज्यते तथापि तस्य बलवतापहारः संभाव्यते अतोस्त्येव रक्षाया अर्थवत्त्वं एतदर्थमेवाह भूमेरधिपतिर्हि सः।

यह कथन तत्संबंधी हिंदू सिद्धांत के बिलकुल विपरीत है। उन लेखकों ने अनजान में हिंदू न्याय-सिद्धांत में स्वयं अपने ही यहाँ के सरदारी विधान (Feudal law) की छाया देखी है। पर हिंदू धर्मशास्त्र से यह सिद्धांत जितनी दूर पड़ता है, उतनी दूर और कोई सिद्धांत नहीं पड़ता। राष्ट्र-संघटन संबंधी हिंदू धर्मशास्त्र के सिद्धांतों की साधारण प्रवृत्ति का जिसे ज्ञान है, उसके सामने यदि युरोप के सरदारी सिद्धांत (Feudal Theory) का समर्थन करनेवाला कोई श्लोक लाकर रख भी दिया जाय, तो भी वह यही समझेगा कि मेरी आँखें मुझे धोखा दे रही हैं—वह उस पर कभी विश्वास न करेगा। आरंभिक साहित्य से लेकर इधर हाल तक के साहित्य से इस बात के अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं कि लोग व्यक्तिगत रूप से भूमियों का दान और विक्रय आदि किया करते थे। धर्म-शास्त्रों में भूमि के विक्रय और उस पर मालिकाना हक या स्वाम्य प्राप्त करने के विधान दिए हुए हैं। इस समय भी ऐसे बहुत से शिलालेख मिलते हैं जिनसे यह बात भली भाँति प्रमाणित होती है कि भूमि लोगों की निजी संपत्ति मानी जाती थी*। और सबसे बढ़कर बात यह है कि यह

---

* इंडियन एन्टिक्वेरी १६१०, पृ० १६६।

सिद्धांत स्पष्ट रूप से और जोर देकर घोषित किया गया है कि भूमि पर राजा का कोई स्वामित्व नहीं है; और यह बात स्वयं मीमांसा दर्शन तक में कही गई है। कोलब्रूक ने मीमांसा पर जो निबंध लिखा है, उसमें इस संबंध में जो विवेचन है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

कोलब्रूक का मत

"भारत में भूमि के स्वामित्व के संबंध के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न का छठे प्रवचन में विवेचन किया गया है। विश्वजित् आदि कुछ यज्ञों में ऐसा विधान है कि जिस यजमान के कल्याण के लिये वह यज्ञ किया जाता है, वह अपनी समस्त संपत्ति पुरोहितों को दान कर देता है। यह प्रश्न किया जाता है कि क्या कोई बड़ा राजा अपनी समस्त भूमि, जिसमें पशुओं के चरने की जगह, राजमार्ग और जलाशय आदि हैं, दान कर देगा? क्या कोई सार्वभौम सम्राट् समस्त पृथ्वी दान कर देगा? अथवा कोई अधीनस्थ कुमार वह समस्त प्रांत दान कर देगा, जिस पर वह शासन करता है? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि न तो राजा को पृथ्वी पर और न कुमार को भूमि पर किसी प्रकार का स्वामित्व संबंधी अधिकार प्राप्त है। युद्ध में विजय प्राप्त करके राजत्व का अधिकार प्राप्त किया जाता है और शत्रु के घरों तथा खेतों पर अधिकार किया जाता है। धर्मशास्त्र का यह सिद्धांत है कि पुरोहितों की संपत्ति

को छोड़कर राजा और समस्त संपत्ति का स्वामी है। इस सिद्धांत का अभिप्राय केवल यही है कि राजा को दुष्टों के शासन तथा सज्जनों के संरक्षण का ही अधिकार प्राप्त है। उसका राजकीय अधिकार केवल राज्य के शासन और दोषों तथा अपराधों के दमन के लिये है। और इसी के लिये वह कृषक गृहस्थों से राज-कर तथा अपराधियों से जुरमाना लेता है। पर इतने से ही उसे स्वामित्व का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। नहीं तो उसके राज्य में बसनेवाली प्रजा के घरों और खेतों पर भी उसे अधिकार प्राप्त हो जायगा। पृथ्वी राजा की नहीं है, बल्कि वह सब लोगों की है; और सब लोग परिश्रम करके उसके फलों का भोग करते हैं। जैमिनि का मत है कि भूमि समान रूप से सब लोगों की है*। इसलिये यद्यपि भूमि का कोई

---

* जैमिनि के जिस सूत्र से कोलब्रूक का अभिप्राय है, वह इस प्रकार है—

न भूमिः स्यात् सर्व्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्। ६. ७. ३।

इससे पहले इस बात का विवेचन किया गया है कि जब कोई व्यक्ति अपना सर्वस्व (स्व) दान करता है, उस समय वह कानून के अनुसार या धर्मतः क्या दान करता है। इस सूत्र का शब्दार्थ यह है—"(किसी देश की) भूमि

खंड दान-स्वरूप किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है, पर फिर भी राजा न तो समस्त पृथ्वी किसी को दान कर सकता है और न कोई कुमार अपना प्रांत दान कर सकता है। हाँ, जो घर और खेत आदि क्रय करके अथवा इसी प्रकार के और साधनों से प्राप्त किए गए हों, वे ही दान किए जा सकते हैं* ।"

(राजा द्वारा) किसी को दान नहीं की जा सकती ; क्योंकि वह समान रूप से सब लोगों की है।"

* कोलब्रूक कृत Miscellaneous Essays पहला खंड, पृ० ३२०-३२१। मीमांसा दर्शन का सबसे बड़ा और मान्य भाष्य शबर का है और इस संबंध में उसका मत भी वही है जो ऊपर उद्धृत कोलब्रूक का है। जैमिनि ६.७.३ पर शबर-भाष्य इस प्रकार है—

अत्रैव सर्वदाने संशयः। किं भूमिर्देया न इति। का पुनर्भूमिः अत्राभिप्रेता। यदेतन्मृदारब्धं द्रव्यान्तरं पृथिवीगोलकं न क्षेत्रमात्रं मृत्तिका वा। तत्र किं प्राप्तम्। अविशेषाद्देया प्रभुत्वसम्बन्धेन हि तत्र स्वशब्दो वर्त्तते शक्यते च मानसेन व्यापारेण स्वता निर्वर्त्तयितुम्। इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः न भूमिर्देया इति। कुतः। क्षेत्राणाम् ईशितारो मनुष्या दृश्यन्ते न कृत्स्नस्य पृथिवीगोलकस्य इति।

मीमांसा के इस विवेचन से ही सूचित होता है कि हमारे यहाँ प्राचीन काल में भूमि पर लोगों का निजी या व्यक्तिगत स्वामित्व माना जाता था; क्योंकि यह विवेचन ही पहले से यह सिद्धांत मानकर किया गया है। इस प्रकार की निजी संपत्ति ऐसी होती थी जिसमें राज्य द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जा सकता था। स्पष्टतम शब्दों में यह बात कह दी गई है कि राजा का भूमि पर अपना अधिकार जतलाना किसी प्रकार संभव नहीं है और न वह अधिकार माना जा सकता है। जो हिंदू धर्मशास्त्र स्वयं देवताओं को भी धर्म के अधीन मानते हैं और जो किसी राजा के स्वेच्छाचारी हो जाने पर उसके लिये दंड तक का विधान करते हैं, उनमें इस प्रकार का निराकरण होना स्वाभाविक और युक्तिसंगत ही है।

आह य इदानीं सार्व्वभौमः स तर्हि ब्रूमः। कुतः। यावता भोगेन सार्व्वभौमो भूमेरीष्टे तावता अन्योऽपि न तत्र कश्चिद्विशेषः सार्व्वभौमत्वेऽस्य त्वेतदधिकं यत् असौ पृथिव्यां सम्भूतानां व्रीह्यादीनां रक्षणेन निर्विष्टस्य कस्यचित् भागस्य ईष्टे न भूमेः तन्निविष्टाश्च ये मनुष्याः तैरन्यत् सर्व्व-प्राणिनाम् धारणविक्रमणादि यत् भूमिकृतं तत्रेशितं प्रति न कश्चिद्विशेषः। तस्मात् न भूमिर्देया।

३५३

§ ३४६. हिंदू धर्मशास्त्रकार नीलकंठ ने यह विवेचन और भी आगे बढ़ाया है; और इस प्रश्न की यहाँ तक विवेचना की है कि जब राजा युद्ध में विजय प्राप्त कर कोई देश जीत लेता है, तो वहाँ की भूमि पर उसका क्या और कैसा अधिकार होता है। उसका विवेचन इस प्रकार है—

सैनिक विजय और भूमि

एवं क्षत्रियादेर्जयादिरिति तु युक्तम्। जयेऽपि जितस्य यत्र गृहक्षेत्रद्रव्यादौ स्वत्वमासीत्तत्रैव जेतुरप्युत्पद्यते ॥ जितस्य करग्राहितायां तु जेतुरपि सैव न स्वत्वम्। अत एव सार्वभौमेन सम्पूर्णा पृथ्वी माण्डलिकेन च मण्डलं न देयमित्युक्तं षष्ठे ॥ सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलस्य तत्तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्वं तु तत्तद्भौमिकादीनामेव राज्ञां तु करग्रहणमात्रम् ॥ अत एवेदानीन्तनपारिभाषिकक्षेत्रदानादौ न भूदानसिद्धिः किन्तु वृत्तिकल्पनमात्रमेव ॥ भौमिकेभ्यः क्रीते तु गृहक्षेत्रादौ स्वत्वमप्यस्त्येव ॥

अर्थात्—"इसी प्रकार क्षत्रिय के लिये विजय आदि उपाय भी युक्त हैं। विजय प्राप्त करने पर विजित राजा के गृह, क्षेत्र, द्रव्य और व्यक्तित्व आदि पर ही उसे स्वामित्व प्राप्त होता है। जहाँ विजित राजा को पहले कर आदि लेने का अधिकार प्राप्त था, वहाँ उसे भी कर आदि लेने का उतना ही अधिकार प्राप्त होता है; उसका स्वत्व या स्वामित्व नहीं

प्राप्त होता। इसी लिये षष्ठ (पूर्वमीमांसा) में कहा गया है कि सार्वभौम राजा न तो संपूर्ण पृथ्वी दान कर सकता है और न मांडलिक लोग अपना मंडल ही दान कर सकते हैं। संपूर्ण पृथ्वीमंडल के ग्रामों और क्षेत्रों आदि का स्वत्व या स्वामित्व उनके भौमिकों या भूस्वामियों के ही पास रहता है। राजा का अधिकार केवल इतना ही होता है कि उनसे कर ले। इसलिये जिसे पारिभाषिक शब्दों में (राजा का) "पृथ्वीदान" कहते हैं, उसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसने स्वयं वह पृथ्वी ही दान कर दी, किन्तु उससे वृत्ति मात्र की ही कल्पना होती है। यदि राजा किसी भौमिक या भूस्वामी से धन आदि देकर क्रय करे, तभी उसे गृहों और क्षेत्रों आदि पर स्वत्व या स्वामित्व प्राप्त होता है*।"

माधव

§ ३४७. धर्मशास्त्र संबंधी साहित्य में विज्ञानेश्वर के उपरांत दूसरा स्थान माधव का है। अतः हिंदू धर्मशास्त्र के प्रश्नों के संबंध में उनका कथन भी बहुत आदर-पूर्वक ग्रहण करने के योग्य है। इसी प्रश्न की उन्होंने नीचे लिखे शब्दों में विवेचना की है—

---

* व्यवहारमयूख (दायनिर्णय)।

देया न वा महाभूमिः स्वत्वाद्राजा ददातु ताम् ।
पालनस्यैव राज्यत्वान्न स्वम्भूर्दीयते न सा ॥

यदा सार्वभौमो राजा विश्वजितादौ सर्वस्वं ददाति तदा गोपथराजमार्गजलाशयाद्यन्विता महाभूमिस्तेन दातव्या । कुतः भूमेस्तदीयधनत्वात् राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जमिति स्मृतेः । इति प्राप्ते—

ब्रूमः । दुष्टशिक्षाशिष्टपरिपालनाभ्यां राज्ञ ईशितृत्वं स्मृत्यभिप्रेतमिति न राज्ञो भूमिर्धनम् । किंतु तस्यां भूमौ स्वकर्मफलं भुञ्जानानां सर्वेषां प्राणिनां साधारणं धनम् । अतोऽसाधारणस्य भूखण्डस्य सत्यपि दाने महाभूमेर्दानं नास्ति* ॥

अर्थात्—"महाभूमि (सार्वजनिक भूमि; मिलाओ नीचे "असाधारण भूमि") जिस पर सर्व साधारण का अधिकार न हो, दान रूप में देय है या नहीं ? कह सकते हैं कि राजा उसे दान कर सकता है, क्योंकि उस पर उसका स्वत्व होता है । परंतु उस पर उसका कोई स्वत्व नहीं होता, क्योंकि उस पर राज्यत्व केवल संरक्षण और पालन के लिये ही होता है । इसलिये वह अदेय है ।

---

* माधवाचार्य कृत न्यायमाला (आनदाश्रम संस्कृत सीरीज) पृ० ३५८ ।

"जिस समय कोई सार्वभौम राजा विश्वजित् आदि यज्ञों में अपना सर्वस्व दान करता है, उस समय एक शंका उत्पन्न हो सकती है। उस महाभूमि में जितने गोपथ, राजमार्ग या जलाशय आदि हैं, क्या वे सब भी दान कर दिए गए? क्योंकि स्मृति के अनुसार उस भूमि में वह धन है, जिस (धन) की, ब्राह्मणों को छोड़कर और सबके लिये, राजा कामना कर सकता है।

"इसका उत्तर यह है कि स्मृति का अभिप्राय यह है कि राजा का राजत्व दुष्टों को शिक्षा या दंड देने और शिष्टों का पालन करने में है। अतः भूमि राजा का धन नहीं है। किंतु उस भूमि में उन सब प्राणियों का साधारण धन है; और वह इसलिये है कि वे लोग परिश्रम करके उसके फल का भोग कर सकें। इसलिये यद्यपि असाधारण (जिस पर सर्वसाधारण का अधिकार न हो) भूमिखंड तो दान किया जा सकता है, परंतु महाभूमि का दान नहीं हो सकता।"

भट्टदीपिका

§ ३४८. मीमांसा की भट्टदीपिका नाम की टीका भी बहुत मान्य है। उसमें इसकी जो व्याख्या की गई है, वह इस प्रकार है—

सार्वभौमस्यापि न तस्यां स्वत्वम्। जयस्यापि च शत्रुस्वामिकधनगृहक्षेत्रादिविषय एव स्वत्वोत्पादकत्वात्।

देया न वा महाभूमिः स्वत्वाद्राजा ददातु ताम् ।
पालनस्यैव राज्यत्वान्न स्वम्भूर्दीयते न सा ॥

यदा सार्वभौमो राजा विश्वजितादौ सर्वस्वं ददाति तदा गोपथराजमार्गजलाशयाद्यन्विता महाभूमिस्तेन दातव्या। कुतः भूमेस्तदीयधनत्वात् राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जमिति स्मृतेः। इति प्राप्ते—

ब्रूमः। दुष्टशिक्षाशिष्टपरिपालनाभ्यां राज्ञ ईशितृत्वं स्मृत्यभिप्रेतमिति न राज्ञो भूमिर्धनम्। किंतु तस्यां भूमौ स्वकर्मफलं भुञ्जानानां सर्वेषां प्राणिनां साधारणं धनम्। अतोऽसाधारणस्य भूखण्डस्य सत्यपि दाने महाभूमेर्दानं नास्ति* ॥

अर्थात्—"महाभूमि (सार्वजनिक भूमि; मिलाओ नीचे "असाधारण भूमि") जिस पर सर्व साधारण का अधिकार न हो, दान रूप में देय है या नहीं? कह सकते हैं कि राजा उसे दान कर सकता है, क्योंकि उस पर उसका स्वत्व होता है। परंतु उस पर उसका कोई स्वत्व नहीं होता, क्योंकि उस पर राज्यत्व केवल संरक्षण और पालन के लिये ही होता है। इसलिये वह अदेय है।

---

* माधवाचार्य कृत न्यायमाला (आनदाश्रम संस्कृत सीरीज) पृ० ३५८।

"जिस समय कोई सार्वभौम राजा विश्वजित् आदि यज्ञों में अपना सर्वस्व दान करता है, उस समय एक शंका उत्पन्न हो सकती है। उस महाभूमि में जितने गोपथ, राजमार्ग या जलाशय आदि हैं, क्या वे सब भी दान कर दिए गए ? क्योंकि स्मृति के अनुसार उस भूमि में वह धन है, जिस (धन) की, ब्राह्मणों को छोड़कर और सबके लिये, राजा कामना कर सकता है।

"इसका उत्तर यह है कि स्मृति का अभिप्राय यह है कि राजा का राजत्व दुष्टों को शिक्षा या दंड देने और शिष्टों का पालन करने में है। अतः भूमि राजा का धन नहीं है। किंतु उस भूमि में उन सब प्राणियों का साधारण धन है; और वह इसलिये है कि वे लोग परिश्रम करके उसके फल का भोग कर सकें। इसलिये यद्यपि असाधारण (जिस पर सर्वसाधारण का अधिकार न हो) भूमि-खंड तो दान किया जा सकता है, परंतु महाभूमि का दान नहीं हो सकता।"

§ ३४८. मीमांसा की भट्टदीपिका नाम की टीका भी बहुत मान्य है। उसमें इसकी जो व्याख्या की गई है, वह इस प्रकार है—

भट्टदीपिका

सार्वभौमस्यापि न तस्यां स्वत्वम्। जयस्यापि च शत्रुस्वामिकधनगृहक्षेत्रादिविषय एव स्वत्वोत्पादकत्वात्।

महापृथिव्यां तु राज्यमात्राधिकारस्यैव जयेन सम्पादनात् राज्यं हि स्वविषयपरिपालनकण्टकोद्धारणरूपं तन्निमित्तकं च तस्य कर्षकेभ्यः करादानं दण्ड्येभ्यश्च दण्डादानं इत्येतावन्मात्रम्। न त्वेतावता तस्यां स्वत्वम्। ......परिक्रयादिलब्धं गृहक्षेत्रादिकं तु देयमेव* ॥

अर्थात्—"सार्वभौम राजा का भी उस (महाभूमि) पर कोई स्वत्व नहीं है। युद्ध में विजय आदि प्राप्त करने पर भी शत्रु के गृह और क्षेत्र आदि निजी संपत्ति पर ही अधिकार प्राप्त होता है। विजय से भी महापृथ्वी पर केवल राज्य या शासन करने का अधिकार प्राप्त होता है; और वह शासन का अधिकार भी अपनी प्रजा का पालन करने और दुष्टों को दमन करने के लिये होता है; और इस काम के लिये राजा को कृषकों से कर लेने और दंडित लोगों से अर्थ-दंड मात्र लेने का अधिकार होता है। उस महाभूमि पर उसे और किसी प्रकार का स्वत्व या अधिकार नहीं प्राप्त होता। ....हाँ, जो गृह तथा क्षेत्र आदि मूल्य देकर क्रय किए गए हों, वे देय या दान करने की वस्तु हो सकते हैं।"

---

* पूर्व मीमांसा दर्शन पर भट्टदीपिका टीका (मैसूर संस्करण) खंड २, पृ० ३१७।

धर्मशास्त्रकार कात्यायन ने इस विषय का विवेचन इस प्रकार किया है—

"जब स्मृति में यह कहा गया है कि राजा भूमि का स्वामी है, उसके अन्य द्रव्यों का स्वामी नहीं है, तब उसका फल या परिणाम यही है कि वह भूमि की उपज का छठा अंश ले सकता है; और किसी प्रकार वह उसका स्वामी नहीं है। उसे जो स्वामित्व प्राप्त है, वह इसी लिये है कि उसमें प्राणियों का निवास है; और उनकी शुभ या अशुभ जो क्रियाएँ हैं, उनकी उपज का छठा अंश ही उसका भाग है।"

इस पर टीका करते हुए मित्र मिश्र ने कहा है—

"इसका अर्थ इस प्रकार है—राजा भूमि का स्वामी है। उस भूमि से संबद्ध जो और द्रव्य हैं, उनका वह स्वामी नहीं है। (मूल में जो कहा गया है कि) "और किसी प्रकार नहीं" वह इसलिये कि भूमि पर उसका स्वाम्य नहीं है। भूतों से अभिप्राय प्राणियों का है। उसके निवास से भूमि पर के निवास का अभिप्राय है; स्वामित्व से अभिप्राय राजा के स्वामित्व से है। इसलिये वह उनकी क्रियाओं का केवल षष्ठांश ही प्राप्त कर सकता है*।"

---

* कात्यायन—

§ ३४६. धर्मशास्त्रों का यही परंपरागत मत है। यही मीमांसा का भी मत है, हिंदू-धर्मशास्त्र के संबंध में जिसका मत निर्विवाद और अंतिम है। यह मत उन राष्ट्र-संघटन शास्त्रकारों का है जो यह निर्णय कर गए हैं कि राजा अपनी प्रजा का केवल भृत्य या सेवक है और अपने वेतन-स्वरूप उनसे कर प्राप्त करता है। सेवक या भृत्य स्वयं उस संपत्ति पर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता, जिसकी रक्षा के लिये वह नियुक्त किया गया है और जिसकी रक्षा करने के लिये उसे

धर्मशास्त्रों और मीमांसा का राष्ट्र-संघटन सिद्धांत से एकमत

भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्यद्रव्यस्य सर्वदा।
तत् फलस्य हि षड्भागं प्राप्नुयान्नान्यथैव तु ॥
भूतानां तन्निवासित्वात् स्वामित्वं तेन कीर्त्तितम्।
तत्क्रियाबलिषड्भागं शुभाशुभनिमित्तजम् ॥इति।

अस्यार्थः। राजा, भुवः स्वामी स्मृतः। अन्यद्रव्यस्य, भूमिसम्बद्धद्रव्यस्य, न स्वामी। अन्यथा, भूमिस्वाम्याभावे। भूतानां, प्राणिनाम्। तन्निवासित्वात्। भूनिवासित्वात्। स्वामित्वं, राज्ञ इति शेषः। इत्यतः तत्क्रियाबलिषड्भागं प्राप्नुयात्। वीरमित्रोदय, पृष्ठ २७१।

वेतन मिलता है। धर्मशास्त्रकारों और राष्ट्र-संघटन संबंधी लेखकों ने एक मत से राजा की जो यह स्थिति बतलाई है, वह केवल ग्रंथों तक ही परिमित नहीं थी। यह मत समस्त देश में सार्वजनिक रूप से मान्य था—इतना अधिक और सार्वजनिक रूप से मान्य था कि किस्से-कहानियों तक में इसका प्रचार हो गया था।

जातक

जातक में, जिसका कुछ अंश हम अगले प्रकरण में शब्दशः उद्धृत करेंगे, (और वहाँ वह एक राजा का कथन है) कहा है कि राजा का अधिकार केवल शासन संबंधी कार्य करने तक ही परिमित है; इसके अतिरिक्त उसका और कोई अधिकार नहीं है और वह समस्त राज्य या देश का स्वामी नहीं है। इसका समर्थन राज्याभिषेक संबंधी उन संस्कारों और कृत्यों से भी होता है जो हिंदू एकराजता का मूल आधार हैं और जिनका हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं।

राज्याभिषेक के कृत्य

राज्याभिषेक के समय जितने कृत्य और संस्कार आदि होते हैं, उनमें कहीं नाममात्र को भी यह संकेत नहीं मिलता कि राज्य की भूमि पर राजा का स्वामित्व होने का किसी प्रकार का विचार या कल्पना रहती थी। अतः हमारी समस्त व्यवस्था के लिये ही भूमि पर राजा के स्वामित्व का भाव या विचार परकीय है।

ताम्रपत्रों पर खुदे हुए गुप्तों के ऐसे अनेक दान-लेख हैं जिनकी उस समय के जिले के अधिकारी के कार्यालय में रजिस्टरी हो चुकी थी और जिनकी मुद्राएँ उनपर अंकित हैं। उन अभिलेखों से भी यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भूमि पर लोगों का निजी और व्यक्तिगत स्वामित्व होता था। जिस प्रकार और दूसरे पदार्थों, (उदाहरणार्थ चल संपत्तियों) के विक्रय पर राजा को षष्ठांश मिलता था, उसी प्रकार कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में भूमि के विक्रय पर भी केवल षष्ठांश ही मिला करता था*।

अभिलेख

---

* इंडियन एन्टिक्वेरी १६१०. पृ० १६६-२०४. (ताम्रलेख बी० और सी०) ताम्रलेख ए० में एक ऐसे भूमि-खंड का उल्लेख है जो पौर संस्था के द्वारा विक्रय किया गया है। उसके विक्रेता प्रधान और उनकी सभा दोनों हैं, जिन्हें उसमें, अमरकोष की भाँति, "प्रकृति" कहा गया है। देखो ऊपर § २५२. पृ० १२६। इस विक्रय में से सम्राट् को उसका धर्म षड्-भाग मिला था। ताम्रलेख ए०। इंडियन एन्टिक्वेरी १६१०, पृ० १६५।

§ ३५०. इतना सब कुछ होते हुए भी हम स्व० विसेंट स्मिथ कृत Early History of India सरीखी बहुत प्रचलित पाठ्य पुस्तकों के कई कई संस्करणों में उनका दृढ़तापूर्वक प्रकट किया हुआ यह मत देखते हैं—

भारतीय इतिहास के ज्ञाताओं का मत

"भारतवर्ष के देशी धर्मशास्त्रों या कानूनों में यही माना गया है कि कृषि करने योग्य भूमि राजा की ही संपत्ति होती है।"

परंतु भारतवर्ष के देशी धर्मशास्त्रों या कानूनों का जो विधान स्वयं भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने किया है, वह निर्विवाद है और इसके बिलकुल विपरीत है। यह किसी और देश का देशी कानून हो सकता है, पर यह निश्चय है कि भारतवर्ष का नहीं हो सकता। यह उचित और न्यायसंगत नहीं जान पड़ता कि एक ऐसी पाठ्य पुस्तक में इस प्रकार का एकांगी और अनुचित मत प्रकट किया जाय; और वह भी बिना इस विषय का पूरा पूरा और प्रामाणिक विवेचन देखे हुए किया जाय। विल्क्स कृत History of Mysore (मैसूर का इतिहास) सन् १८६६ में प्रकाशित हुआ था। इस संबंध में जितनी सामग्री प्राप्त थी, उन सबका भली भाँति अध्ययन करके उन्होंने इस विषय का बहुत ही विस्तार के साथ विवेचन किया था*; और वह सब सामग्री श्रीयुक्त

---

* खंड १, प्रकरण ५, पृ० ६५-१३८।

विंसेंट स्मिथ को भी सहज में प्राप्त हो सकती थी। विल्क्स ने यह दिखलाया है कि हिंदू धर्मशास्त्रों में से युरोप का सरदारी सिद्धांत या व्यवस्था (Feudal Theory) ढूँढ़ निकालने के लिये कुछ भी आधार नहीं है। इसी हिंदू-राज्यतंत्र की प्रस्तावना (Introduction to Hindu Polity) में यह बतलाया गया था कि इस संबंध में हिंदू साहित्य में क्या क्या बातें मिलती हैं। उसे देखकर श्रीयुक्त प्रो॰ मैक्डानल और प्रो॰ कीथ ने, जो भारतीय इतिहास संबंधी बातों के साथ अत्यधिक उदारतापूर्ण विचार और सहानुभूति रखने के अभियुक्त नहीं ठहराए जा सकते, सरदारी सिद्धांत संबंधी सब तर्कों और सामग्री आदि को देखकर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Vedic Index* में जो कुछ लिखा था, वह इस प्रकार है—

"जिस बात को प्रमाणित करना अभीष्ट है, उसे प्रमाणित करने के लिये जो प्रमाण मिलते हैं, वे ठीक नहीं हैं। इस संबंध में यूनानी आलोचकों के मत परस्पर-विरोधी हैं। वैदिक साहित्य तथा मानव धर्मशास्त्र और महाभारत से जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे भी यह सिद्धांत प्रमाणित नहीं होता। जहाँ तक दूसरे आर्य लोगों के

---

* खंड २, पृ॰ २१४-१५।

प्रमाण मिलते हैं, उनसे भी इस सिद्धांत का समर्थन नहीं होता कि आरंभ में राजा ही भूमि का स्वामी माना जाता था। जहाँ तक हम एंग्लो-सैक्सन काल या होमर के समय के यूनान अथवा रोम में देखते हैं, वहाँ तक हमें यही दिखाई पड़ता है कि भूमि पर राजा का इस प्रकार का स्वामित्व कहीं नहीं था। विद्वान् लेखक लोग यद्यपि वैदिक भारत की तुलना ढूँढ़ने के लिये दक्षिण अफ्रिका तक चले जाते हैं, परंतु जैमिनि की पूर्ण उपेक्षा करते हुए उसके पास से चुपचाप निकल जाते हैं, उसके मत का कुछ भी ध्यान नहीं करते*।"

---

* मैकडोनल और कीथ कृत Vedic Index, खंड २, पृ० २१४-१५। लेखकगण यह भी कहते हैं—"इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि धीरे धीरे लोग अनिश्चित रूप से यह समझने लग गए थे कि भूमि पर राजा का स्वामित्व का अधिकार है, जैसा कि अब तक अँगरेज राजा का अधिकार समझा जाता है।" इस कथन का भी इसके सिवा और कोई आधार नहीं है कि "जैसा कि अब तक अँगरेज राजा का अधिकार समझा जाता है" और जो इस भ्रमपूर्ण सिद्धांत का मूल दोष है। इस सिद्धांत का निर्जीव अवशिष्ट अब तक अनिश्चित रूप से चला चलता है।

§ ३५१. श्रीयुक्त विन्सेन्ट स्मिथ ने अपनी उक्त पुस्तक के दूसरे संस्करण (पृ० १२९) में तो अपने मत के समर्थन में किसी आचार्य आदि का उल्लेख नहीं किया है, परंतु अंतिम संस्करण (सन् १९१४, पृ० १३१ की पाद-टिप्पणी) में अर्थशास्त्र २. २४. (पृ० १४४) के एक अनुवाद में से अनुवादक का ही अनुवाद किया हुआ एक वाक्य उद्धृत किया है। उस वाक्य का आशय इस प्रकार है—'जो लोग शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता हैं, वे यह स्वीकृत करते हैं कि राजा स्थल और जल दोनों का स्वामी है और सर्व-साधारण इन दोनों वस्तुओं को छोड़कर और सब वस्तुओं पर स्वामित्व का अधिकार रख सकते हैं।" यह वाक्य राजनीतिक दृष्टि से एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण श्लोक का अनुवाद है, जिसे अर्थशास्त्र के एक टीकाकार ने उद्धृत किया है। यह टीका मदरास की ओरिएंटल गवर्नमेंट लाइब्रेरी में रक्षित है और श्रीयुक्त प्रो० कृष्णस्वामी ऐयंगर की कृपा से मुझे उसकी एक ऐसी प्रतिलिपि मिली है, जो उस लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन के निरीक्षण में प्रस्तुत हुई है। उसमें मूल श्लोक इस प्रकार है—

अर्थशास्त्र के टीकाकार का श्लोक

राजा भूमेः पतिर्दृष्टः शास्त्रज्ञैरुदकस्य च।
ताभ्यामन्यत्र यद्द्रव्यं तत्र साम्य कुटुम्बिनाम् ॥

जो लोग हिंदू धर्मशास्त्रों से अभिज्ञ हैं, वे इस श्लोक को एक बार देखते ही समझ जायँगे कि ऊपर इसका जो अनुवाद दिया गया है, वह इस श्लोक का वास्तविक अर्थ या अभिप्राय नहीं है। इस श्लोक का सीधा-सादा अर्थ यह होता है—"शास्त्रज्ञों के मत से राजा भूमि और जल का पति (रक्षक) है। इन दोनों के अतिरिक्त और जो कुछ द्रव्य या संपत्ति है, उस पर उसके कुटुम्ब के लोगों का समान रूप से अधिकार है।"

वास्तव में यह मीमांसा का एक सिद्धांत है और उसी को धर्मशास्त्रकारों तथा राष्ट्र-संघटन संबंधी लेखकों ने दोहराया है। फिर राजपरिवार के लोगों के अधिकारों के संबंध में भी यही बात दोहराई गई है। किसी राज्य का विभाग या बँटवारा नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रों के अनुसार राज्य राजा की संपत्ति नहीं है। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है, भूमि और उसमें के जलाशय केवल इस दृष्टि से राजा के अधिकार में हैं (वह उनका पति है) कि वह उनका रक्षक है; इससे अधिक और कुछ नहीं। वह उन सबका रक्षक मात्र है। इसी लिये उसके परिवार के लोगों का उन पर उस प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, जैसा सम्मिलित परिवार के लोगों को होता है। रक्षक के रूप में वह कर लेता है और वह भूमि तथा जल का रक्षक है; इसलिये वह इन दोनों की आय से कर लेने का

अधिकारी है। उसके परिवार के लोगों का न तो उस कर से और न कर के साधनों या उद्गमों से किसी प्रकार का संबंध या सरोकार है।

अनुवाद के भाव को मूल श्लोक का भाव बतलाना बहुत ही अनुचित और निंदनीय है। और यह कहना कि यह भाव अर्थशास्त्र के एक टीकाकार का है, मानों हिंदू काल के एक हिंदू लेखक को पागल ठहराना है। जिस व्यक्ति के संस्कार शास्त्रों की सभ्यता और परंपरागत बातों से युक्त होंगे, वह दिमाग ठीक रहने की दशा में कभी वह बात नहीं कह सकता, जो जबरदस्ती उस श्लोक के कर्त्ता* के सिर मढ़ी जाती है।

——

* इस टीकाकार का नाम और काल ज्ञात नहीं है।

पैंतीसवाँ प्रकरण

हिंदू राजा की स्थिति

§ ३५२. अब हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि हमारे यहाँ हिंदू राजा की क्या स्थिति थी।

राजा और उसके राज-परिवार की वृत्तियाँ बँधी हुई थीं, जिन्हें वेतन कहते थे। यह वेतन राज्य की आय और

राज-परिवार का वेतन

राजा तथा देश की स्थिति के विचार से नियत किया जाता था*। समस्त राज-कर उसका वेतन नहीं होता था। पटरानी, दूसरी छोटी रानियों, राजमाता, राजकुमारों तथा राज-परिवार के दूसरे लोगों के वेतन भी नियत थे।

---

* अर्थशास्त्र ५. २. ९१ (पृ० २४५)।

दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्मसमुदयवादेन स्थापयेत्। कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत्। न धर्मार्थौ पीडयेत्।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि राजा भी भृत्यों के ही अंतर्गत है। समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा। (पृ० २४६)

§ ३५३. प्रजा के विशिष्ट व्यक्तियों पर राजा का कोई अधिकार नहीं होता था। यद्यपि वह स्वामी कहलाता था, तथापि जिस प्रकार लोग यह जानते थे कि सूर्य नित्य उदय होता है, उसी प्रकार वे यह भी जानते थे कि अपराधियों को छोड़कर राजा और किसी प्रजा का स्वामी नहीं है। जातकों में न तो दार्शनिक तत्त्व ही हैं और न आदर्श ही, बल्कि जीवन में नित्य प्रति होनेवाली घटनाओं का उल्लेख है। उन्हीं जातकों में की एक कथा में यह प्रसंग आया है कि एक राजा की परम सुंदरी रानी ने उस राजा से कहा था कि मैं समस्त राष्ट्र या प्रजा पर पूर्ण अधिकार चाहती हूँ। इसके उत्तर में उस राजा ने कहा था —

राजा किसी प्रजा का स्वामी नहीं था

"हे भद्रे, मेरे लिये समस्त राष्ट्र के निवासी कोई चीज नहीं हैं। मैं उनका स्वामी नहीं हूँ (अर्थात् वे अपने स्वामी आप हैं)। मैं केवल उन्हीं लोगों का स्वामी हूँ, जो शासक के विरुद्ध कोई अपराध करते हैं या कोई अकर्त्तव्य (नियम-विरुद्ध) कार्य करते हैं। इस कारण मैं तुम्हें अपने समस्त राष्ट्र के निवासियों पर ईश्वरत्व या स्वामित्व प्रदान करने में असमर्थ हूँ*।"

---

* जातक, खंड १, पृ० ३९८। भद्दे मह्यं सकलरट्ठ-वासिनो न किञ्चि होन्ति नाहं तेसां सामिको ये पन राजानं

§ ३५४. इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ राजा की क्या स्थिति थी, उसके लिये कितने अधिक बंधन और प्रतिबंध थे और वह पौर-जानपद की राष्ट्र-संघटन संबंधी शक्ति के कितने अधीन था। आरंभ से ही उसके संस्कार ऐसे होते थे कि उसे सार्वजनिक मत पर तुरंत ध्यान देना पड़ता था। इन सब बातों को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि उसकी स्थिति वास्तव में राष्ट्र के एक सेवक या भृत्य के समान थी; या जैसा कि हमारे पूर्वज लोग कठोरतापूर्वक कह गए हैं, वह घोर परिश्रम करनेवाला दास था। रामायण में तो यहाँ तक आदर्श उपस्थित किया गया है कि यदि प्रजा की इच्छा देखे, तो राजा अपनी प्रिय पत्नी तक का परित्याग कर दे। यद्यपि राजा की स्थिति व्यक्त करने का यह एक प्रचलित, पर भद्दा, ढंग है, तथापि इससे यह बात बहुत ही

राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से राजा एक सेवक था

कोपेत्वा अकत्तब्बं करोन्ति तेसञ्ञेवाहं सामिको ति इमिना कारणेन न सक्का तुह्यं सकलरट्ठे इस्सरियञ्च आणञ्च दातुं ति।

जान पड़ता है कि सुभीते के विचार से राजा को अपने राजप्रासाद में एक उच्च प्रकार का अधिकार प्राप्त होता था (वशं = पूर्ण अधिकार)।

उत्तमतापूर्वक सिद्ध होती है कि हिंदू राष्ट्र-संघटन अपने राजा से यहाँ तक कह सकता है कि तुम अपने पद के सामने अपने व्यक्तित्व को कोई चीज मत समझो, व्यक्तित्व को पद में लीन हो जाने दो। जहाँ इस प्रकार के सिद्धांत हों, वहाँ राजा सचमुच राष्ट्र और उसके संघटन का दास ही होगा। हिंदू एक-राजत्व का सब से बड़ा समर्थक कौटिल्य भी यह नहीं चाहता कि राजा अपनी कोई व्यक्तिगत रुचि या अरुचि रखे। वह कहता है—"राजा को स्वयं अपना कोई हित प्रिय नहीं रखना चाहिए। उसे केवल प्रजा का ही हित प्रिय होना चाहिए* ।"

त्याग के इतने उच्च भाव के कारण ही जो व्यक्ति राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से राष्ट्र का दास होता था, वही नैतिक दृष्टि से उसका स्वामी भी होता था। वह "एक ऐसा आदमी होता था, जो बहुत से बुद्धिमानों और वीर पुरुषों पर शासन करता था।" महाभारत में कहा है कि "घोड़े या बकरी की भाँति" उसका जन्म भी दूसरों के लिये ही होता

नैतिक दृष्टि से स्वामी

---

* अर्थशास्त्र १. १६. १६ (पृ० ३६)।
प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

है। जिस व्यक्ति को हिंदुओं के राजा होने का सौभाग्य प्राप्त होता था, उस व्यक्ति के लिये हिंदू राजत्व त्याग का सर्वोत्कृष्ट आदर्श होता था।

§ ३५५. राजा की उपयोगिता बहुत अधिक थी। वह मंत्रियों और परिषद् की बदली करता था और शासन के सब विभागों में सामंजस्य रखता था। उसमें स्वार्थ-त्याग का बहुत अधिक भाव होता था; उसकी बहुत उच्च परंपरा तथा स्थिति होती थी; और इन सब कारणों से नैतिक दृष्टि से उसका स्थान मंत्रियों और मांडलिकों आदि से बहुत ऊँचा होता था। यदि कोई प्रांतीय शासक या मांडलिक खराब होता था, तब भी प्रजा अपने राजा से उसके सुधार की पूरी पूरी आशा रखती थी और वह राष्ट्र को छिन्न-भिन्न नहीं होने देता था*। मंत्री तो आते-जाते रहते थे, पर वह स्थायी रूप से रहता था। जिस समय वह शक्तिहीन हो जाता था, उस समय भी वह, जैसा कि कौटिल्य ने कहा

उपयोगिता

---

* अर्थशास्त्र ८. १. १२७ (पृ० ३२०)।

मन्त्रिपुरोहितादिभृत्यवर्गमध्यक्षप्रचारं पुरुषद्रव्यप्रकृतिव्यसनप्रतीकारमेधनञ्च राजैव करोति व्यसनिषु वामात्येष्वन्यानव्यसनिनः करोति।

है, राज्य का सूचक चिह्न या ध्वज होता था*। लोगों को राजनिष्ठ बनाए रखने के लिये वह राज्य का झंडा होता था और राष्ट्र को संघटित तथा एक बनाए रखता था। शुक्र के शब्दों में वह "राज्य-रूपी वृक्ष का मूल" होता था। उसने कहा है—

"राजा राज्य-रूपी वृक्ष का मूल है; मंत्रि-परिषद् उसका धड़ या स्कंध है; सेनाधिपति उसकी शाखाएँ हैं; सैनिक उसके पल्लव हैं; प्रजा उसके पुष्प हैं; देश की संपन्नता उसके फल हैं; और समस्त देश उसका बीज है†।"

यदि राजा न होता, तो शासन के सब काम मंत्रियों के हाथ में चले जाते; और उस वृक्ष के फल तथा भावी फलों के बीज उनके हाथ चले जाते और वे अनुचित रूप से उनसे लाभ उठाने लगते।

---

* अर्थशास्त्र ५. ६. ९५. (पृ० २५४)—ध्वजमात्रोऽयम्।

† शुक्रनीतिसार ५. १२।

राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः।
शाखा सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमिः प्रकल्पिता॥

राजा की उपयोगिता और उसके श्रेष्ठ त्याग का जीवन देखते हुए* हिंदू जगत् ने अपना अंतिम वक्तव्य भीष्म के मुख से, जो हिंदू साहित्य में हिंदू राजत्व के प्रतिनिधि हैं, इस प्रकार कहलाया है—

सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम् ।

अर्थात्—"समाज के सब धर्मों या कर्त्तव्यों में क्षात्र-धर्म या शासन सदा श्रेष्ठ रहता है ।"

---

* महाभारत, शांतिपर्व, अ० ६३. २६ ।

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा
लोकज्ञानं पालनं मोक्षणञ्च ।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां
क्षात्रे धर्म्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥

छत्तीसवाँ प्रकरण

हिंदू एकराजत्व की विशेषता

§ ३५६. ऊपर मीमांसा का जो विवेचन किया गया है, राज-कर संबंधी जो सिद्धांत बतलाया गया है और राज्याभिषेक संबंधी जिस प्रतिज्ञा का उल्लेख हुआ है, उन सबको देखते हुए तथा ऊपर जो और बातें बतलाई गई हैं, उन सबको ध्यान में रखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिंदुओं की दृष्टि में एकराज शासन-प्रणाली के अधीन राज्य एक थाती के समान रहता था। इस थाती का उद्देश्य श्रुति के उस वाक्य में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया गया है, जिसका उच्चारण प्रत्येक राज्याभिषेक के समय होता था और जिसका आशय यह था—"यह राष्ट्र तुम्हें दिया जाता है। तुम इसके संचालक, नियामक और इस उत्तरदायित्व के दृढ़ वहनकर्त्ता हो। यह राज्य तुम्हें कृषि (की वृद्धि) कल्याण,

राज्य एक थाती था

संपन्नता, (प्रजा के) पोषण (अर्थात् सफलता) के लिये दिया जाता है* ।

इस प्रकार राज्य-रूपी जो थाती राजा को सौंपी जाती थी, वह प्रजा की संपन्नता और कल्याण के लिये सौंपी जाती थी। इसका मूल सिद्धांत यही है, जो परवर्त्ती साहित्य में इतने रूपों में व्यक्त किया गया है और जिसके कारण अंत में यह एक निश्चित सिद्धांत बन गया था कि राजा अपनी प्रजा का सेवक है और वेतन पाता है। यदि थाती का उद्देश्य पूरा न हो, तो कहा गया है कि जिसे थाती सौंपी गई है, उसे उसी प्रकार छोड़ देना चाहिए, जिस प्रकार समुद्र में वह पोत छोड़ दिया जाता है, जिसके पेंदे में छेद हो जाता है† ।

---

* शुक्ल यजुर्वेद ९. २२ ।

"यह तेरा राज्य है। तू शासक है, तू नियंत्रण करने-वाला है, तू दृढ़ है और दृढ़निश्चयी है।"

"तू कृषि के लिये है, तू सुख और शांति के लिये है, तू हमारे द्रव्यों की वृद्धि करने के लिये है।"

(आर० टी० एच० ग्रिफिथ के अँगरेजी अनुवाद के आधार पर।)

† महाभारत, शांतिपर्व ५७. ४३ ।

हिंदू एकराजता की इन बातों से हमें उसके महान् और विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान होता है। राज्य का चरम उद्देश्य यही होता था कि प्रजा में पूरी शांति बनी रहे और वह खूब संपन्न हो। राजा पर कभी धार्मिक कर्त्तव्य नहीं लादे जाते थे। वैदिक काल में भी वह कभी पुरोहित का काम नहीं करता था। संपन्नता से वास्तव में ऐहिक संपन्नता का ही अभिप्राय था; क्योंकि राज्य का संघटन कृषि और धन आदि के लिये ही होता था। और जो संपन्नता उपयुक्त और ठीक शासन तथा न्याय से प्राप्त होती थी, वह अपने साथ ही साथ निश्चित रूप से नैतिक संपन्नता या कल्याण लानेवाली भी समझी जाती थी।

नागरिक राज्य

§ ३५७. एक बात और है। हिंदुओं का एकराज राज्य वास्तव में एक नागरिक राज्य था। यद्यपि स्थायी सेनाओं का पता ई० पू० छठी शताब्दी से ही लगता है और कदाचित् उनका अस्तित्व और भी, कई शताब्दी पहले से रहा हो और यद्यपि समय समय पर एकराज राज्य में सात आठ लाख तक स्थायी सेनाएँ रही हों,* तथापि इसमें संदेह नहीं कि हिंदू राज्य कभी सैनिक राज्य नहीं होता था। प्रांतीय शासक या

---

* अर्थात् चंद्रगुप्त मौर्य के समय में।

मांडलिक लोग सदा नागरिक अधिकारी ही होते थे, सैनिक अधिकारी नहीं होते थे। शिलालेखों में जितनी आज्ञाएँ मिलती हैं, वे सब नागरिक अधिकारियों के ही नाम हैं। प्रधान सेनाध्यक्ष और सेना के दूसरे बड़े-बड़े अधिकारी राष्ट्र-परिषद् द्वारा नियुक्त किए जाते थे जिसमें सेनाध्यक्ष का कोई स्थान नहीं होता था। हमारे यहाँ सेनाएँ कभी किसी को राजा नहीं बनाती थीं और न किसी को राज्यच्युत करती थीं। हमारे यहाँ नागदर्शक, पालक और इन लोगों से भी बहुत पहले वेण आदि कई राजा राज्यच्युत किए गए थे; पर वे सब राजधानी के नागरिकों तथा दूसरी नागरिक जनता के द्वारा राज्यच्युत किए गए थे, न कि सेनाओं द्वारा राज्यच्युत हुए थे। हमारे यहाँ राजा की कई उपाधियाँ थीं, जैसे नरपति, या प्रजा का रक्षक, भूपति या देश का रक्षक, भट्टारक या प्रभु और महाराज आदि; और यद्यपि हमारे यहाँ के राजाओं की व्यक्तिगत वीरता का भी बहुत कुछ उल्लेख मिलता है, तथापि राजा की कोई ऐसी उपाधि नहीं मिलती जो सेना-संबंधी या सैनिकता की सूचक हो। सर्वप्रधान शासक होने के कारण वह अवश्य ही सेना का भी सर्वप्रधान अधिकारी था; और वह प्रायः युद्धक्षेत्र में जाकर सेनाओं का संचालन और युद्ध करता था; पर वह एक व्यक्तिगत बात थी। हमारे यहाँ कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है जो उसे सैनिक महत्त्व देता हो। उसे सेना का

संचालन करने और सेनापति बनने का कोई विशिष्ट अधिकार नहीं होता था। वैदिक काल से ही सेनापति का पद राजा के पद से बिल्कुल भिन्न हुआ करता था (§ २११)।

इसी प्रकार हमारे यहाँ यह भी सिद्धांत था कि जहाँ तक हो सके, युद्ध न किया जाय; और विशेषत: केवल दूसरों पर विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध करना तो और भी अनुचित समझा जाता था। हिंदू राजनीति का यह मानों एक प्रकार से निश्चित सिद्धांत था*। सैनिकता कहीं अपने विशिष्ट रूप में नहीं दिखलाई देती।

§ ३५८. इसके विपरीत, जैसा कि हम बतला चुके हैं, हमारे यहाँ की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि राज्यतंत्र में धर्म या कानून का स्थान सबसे बढ़कर और उच्च था। महाभारत में राज्याभिषेक की जो प्रतिज्ञा है, उसमें भी धर्म का बहुत अधिक महत्त्व हम देख ही चुके हैं। हमारे यहाँ धर्म पर जो इतना जोर दिया गया है, उसी से यह सूचित होता है कि हिंदू एकराज तंत्र का विशिष्ट स्वरूप नागरिक ही था, सैनिक नहीं था।

---

* मनु ७. १९९. महाभारत ६९. २३. "बृहस्पति ने यह विधान किया है कि बुद्धिमान् राजा को केवल दूसरे राजा का देश जीतने के विचार से कभी युद्ध नहीं करना चाहिए।"

§ ३५६. युद्ध और विजय के धर्म या नियम आदि नागरिक धर्म के अंतर्गत और उसके अंग-स्वरूप ही होते थे। यहाँ तक कि प्रायः विजय के प्रश्न पर पौर धर्म की दृष्टि से विचार किया जाता था और धर्म की नैतिकता तथा मर्यादा का ध्यान रखा जाता था। यदि कोई राज्य युद्ध में जीत लिया जाता था, तो वहाँ का शासन फिर वहीं के प्राचीन राजवंश को सौंप दिया जाता था। मानवधर्मशास्त्र* में यह विधान एक ऐसे राज्य का अनुभव करने के उपरांत किया गया था, जो प्रायः समस्त भारत में और एक राजा के अधीन था और जो एक सागर से दूसरे सागर तक और मदरास से हिंदूकुश तक विस्तृत था। उसका आधार उचित उत्तराधिकार का कानूनी सिद्धांत था। यह कोई ऐसा कोरा सिद्धांत नहीं था जो एक बार शुभ भावना के रूप में प्रतिपादित कर दिया जाता था और बाद में भुला दिया जाता था। ईसवी चौथी से दसवीं शताब्दी तक इस सिद्धांत का बहुत अधिक पालन किया जाता था। गुप्त राजवंश के महान् विजयी समुद्रगुप्त का प्रयाग में जो स्तंभा-

विजय और न्याय का भाव

---

* मनु ७. २०२। दूसरे धर्मशास्त्रों में भी यही सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है।

भिलेख है, उससे भी यही सूचित होता है कि इसी सिद्धांत का अनुसरण किया गया था। कालिदास ने भी इस प्रथा का उल्लेख किया है। सबसे पहले मुसलमान यात्री-लेखक सुलेमान ने भी इसकी साक्षी दी है। उसने कहा है—"वे लोग अपने पड़ोसी राजाओं के साथ जो युद्ध करते हैं, वह प्रायः उनके राज्यों पर अधिकार कर लेने के विचार से नहीं करते।.......... जब कोई राजा किसी दूसरे राज्य पर अधिकार कर लेता है, तब वह वहीं के राजवंश के किसी व्यक्ति को वहाँ का राज्य और शासन सौंप देता है। (सन् ८५१. अबू जैद द्वारा लिखित सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण Account of the Merchant Sulaiman as recorded by Abu Zaid एब्बी रेनाडाट कृत अनुवाद १७१८.) हिंदू बुद्धिवाद के समय, जो हिंदू इतिहास का सबसे अच्छा समय माना जाता है, यह सिद्धांत उस रूप में प्रचलित था जो यूनानी लेखकों ने हिंदुओं की पर-राष्ट्रनीति के संबंध में देखा था। मेगास्थिनीज के लेखों के आधार पर एरियन ने अपने Indika नामक ग्रंथ (६) में इस प्रकार लिखा है—

"वे (हिंदू) कहते हैं कि न्यायशीलता किसी हिंदू राजा को भारत की सीमाओं से बाहर जाकर विजय प्राप्त करने से रोकती है।"

§ ३६०. यद्यपि चंद्रगुप्त अपने समय में "संसार में सबसे अधिक बलशाली राजा" (र्हीस डेविड्स) था और उसके दो उत्तराधिकारी भी ऐसे ही बलशाली थे और यद्यपि मौर्य सम्राटों के पड़ोसी सेल्यूकस का साम्राज्य बहुत ही दुर्बल और छिन्न-भिन्न हो रहा था, तथापि इसी सिद्धांत ने उन्हें भारत की उस समय की प्राकृतिक सीमा हिंदूकुश को पार करने से रोका था और उन्होंने कभी उसे जीतने का विचार भी न किया था।

नागरिक राज्य-तंत्र का परिणाम दीर्घायुष्य

§ ३६१. हिंदू राज्यों की आयु असाधारण रूप से दीर्घ हुआ करती थी (§ ३७१) और राजा तथा प्रजा में कभी कोई भीषण संघर्ष नहीं होता था; और हम समझते हैं कि समाज शास्त्र के ज्ञाता इतिहासज्ञ लोग इन बातों का मुख्य कारण यही मानेंगे कि हिंदू राज्यतंत्र का स्वरूप नागरिक और धर्मयुक्त था।

———

सैंतीसवाँ प्रकरण

साम्राज्य-प्रणालियाँ

§ ३६२. ऐतरेय ब्राह्मण में प्रजातंत्री राज्यों के वर्ग के उपरांत एकराज राज्यों का वर्ग रखा है, जिसके नीचे लिखे भेद
आधिपत्य और बतलाए हैं—(१) राज्य,* (२) महाराज्य,
सार्वभौम
(३) आधिपत्य और (४) सार्वभौम† ।

---

* राज्य के साथ "पारमेष्ठ्य" विशेषण लगा है जो कदाचित् उसे श्रेष्ठ राज्य सूचित करने के लिये लगाया गया है । "सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेयम् ।" यह भी संभव है कि पारमेष्ठ्य किसी प्रकार का ऐसा एक-राज्य हो, जिसका शासन-संघटन कुछ भिन्न रहा हो । मिलाओ—राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यम् । (ऐत० ८. १२) हमें स्मरण आता है कि हमने महाभारत में कोई ऐसा पद देखा है जिसमें एक राजा को परमेष्ठी कहा गया है । स्वावश्य (८. १२) का प्रचार बहुत कम था और वह कदाचित् स्वेच्छापूर्ण एकतंत्र शासन-प्रणाली का अवशिष्टांश था; और वह महाभारतवाली प्रतिज्ञा में हिंदू एकराजता से विशेष रूप से बहिष्कृत किया गया है ।

† ८. १५. साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समंतपर्यायी स्यात् ।

महाराज्य की कोई परिभाषा नहीं की गई है। पर उसमें जो विशेषण "महा" लगा हुआ है, उससे आपेक्षिक संबंध सिद्ध होता है; और यह जान पड़ता है कि एक ही प्रकार के एकराज राज्यों में जो अधिक बड़ा और श्रेष्ठ होता था, वह महाराज्य कहलाता था। कदाचित् महाराज्य अपने आस-पास के छोटे राज्यों से बड़ा होता था और उसके संघटन में कुछ ऐसी विशिष्ट बातें होती थीं जो अभी तक ज्ञात नहीं हैं। 'आधिपत्य' शब्द अपने पारिभाषिक भाव में यही सूचित करता है कि उसका राजा कई रक्षित राज्यों का अधिपति हुआ करता था। ऐतरेय ब्राह्मण में आधिपत्य का उल्लेख करने के उपरांत कहा गया है—"मैं अपने आस-पास के राज्यों का राजा होऊँ*।" अतः आधिपत्य एक ऐसी साम्राज्य-प्रणाली जान पड़ती है, जिसमें मुख्य राज्य को अपनी सीमा के बाहरी और आस-पास के राज्यों पर विशेष संरक्षण या प्रधानता (आधिपत्य) प्राप्त होती थी। खारवेल का महाराज्याभिषेक हुआ था; पर उसने बहुत से देशों पर विजय प्राप्त की थी और राजसूय यज्ञ किया था और कदाचित् इसी लिये वह अधिपति और चक्रवर्ती कहा गया था†।

---

* ऐतरेय, ८. १५. समन्त पर्यायी स्याम् ।

† जायसवाल J. B. O. R. S. ३. ४३४, ४५६. और ४. ३७६, ३६६ ।

सार्वभौम होने की कामना करने का अभिप्राय यह था कि देश की प्राकृतिक सीमाओं और समुद्र तक का देश अपने अधीन हो जाय और सब मनुष्यों पर अपना शासन हो* । यह बड़े एकराज्य का ही एक भेद है, जिसका आधार जातीय या राष्ट्रीय अर्थात् शतपथ ब्राह्मण का जानराज्य नहीं होता था, बल्कि जो सीमा के आधार पर होता था। सार्वभौम होने के लिये यह आवश्यक था कि प्राकृतिक सीमाओं के अंदर जितनी भूमि हो, उस सब भूमि (सर्व-भूमि) का स्वामित्व प्राप्त हो, अर्थात् प्राकृतिक सीमाओं से युक्त पूरे देश का राज्य हो। कौटिल्य ने यह प्राकृतिक सीमाओंवाला भाव उसे "चातुरंत" राज्य कहकर प्रकट किया है, अर्थात् ऐसा साम्राज्य जो चारों सीमाओं तक विस्तृत हो†; और इसकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है—"यह ऐसा साम्राज्य-क्षेत्र है, जो कन्या कुमारी से लेकर हिमालय पर्वत तक विस्तृत है, अर्थात् समस्त भारत‡ ।" समुद्र तक विस्तृत एक राजा के

---

* ऐतरेय ब्रा० ८. १८ ।

सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्र-पर्यन्ताया एकराट् ।

† अर्थशास्त्र ३. १. ५८, पृ० १५६ ।

‡ उक्त ग्रंथ ६. १. पृ० ३३८ ।

साम्राज्य का भाव कदाचित् पहले मगध में उत्पन्न हुआ था, क्योंकि वहाँ से बंगाल की खाड़ी तक विजय के लिये खुला मैदान पड़ा था। दोआब के आर्य जनों की जातियों के विपरीत वहाँ अनार्य जातियों का निवास था; और उन अनार्यों को हिंदू साम्राज्यवादी लोग नैतिक दृष्टि से अपने लिये कोई बाधक नहीं समझते थे।

इस प्रकार हमें दो मुख्य प्रणालियाँ मिलती हैं; एक तो आधिपत्य प्रणाली और दूसरी सार्वभौम प्रणाली*। मगध के राजाओं ने, जिन्होंने जानराज्य का सिद्धांत छिन्न-भिन्न कर डाला था, आर्य भारत तक अपनी सार्वभौम प्रणाली का विस्तार और प्रयोग किया था। वैदिक काल के प्राचीन राजवंशों का नाश करके महापद्म ने जो एकराज्य और एकछत्र राज्य स्थापित किया था, उसकी हिंदू इतिहास-कारों ने निंदा की थी†। (§ ३६३.)

---

* सार्वभौम से समस्त पृथ्वी का अभिप्राय नहीं है। देखो § ३५१ में देश के अर्थ में "पृथ्वी" शब्द का प्रयोग। अर्थशास्त्र पृ० ३३८ के अनुसार भी पृथ्वी का अर्थ देश ही है।

† देखो Puran Text (Pargiter) पृ० २५, जायसवाल J. B. O. R. S. १. १११।

§ ३६३. इसके साथ ही साम्राज्य-प्रणाली का भी प्रचार था। यह सार्वभौम प्रणाली से और कदाचित् आधिपत्य प्रणाली से भी पुरानी थी। वैदिक साहित्य में यह प्रणाली बहुत अच्छी मानी गई है। यह बात विशेष महत्त्व की है कि ऐतरेय ब्राह्मण में वह एकराज प्रणालियों से अलग रखी गई है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि उक्त ब्राह्मण में इस प्रणाली को अ-राज-प्रणालियों की सूची में सबसे ऊपर स्थान मिला है। यदि हम इस प्रणाली के सब अंगों को ध्यानपूर्वक देखें, तो इसका कारण भी समझ सकते हैं। साम्राज्य शब्द ऐसे अनेक राज्यों के समूह का सूचक है जो किसी एक बड़े राज्य के अधीन हों। आज-कल के शब्दों में इसे संघ-साम्राज्य-प्रणाली या Federal Imperial System कह सकते हैं। अपने संघात्मक स्वरूप के कारण ही यह एकराज प्रणाली से भिन्न है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्राची दिशा के शासकों ने अपना साम्राज्याभिषेक कराया था, अर्थात् प्राची या मगध में इस साम्राज्य प्रणाली का केंद्र था। शुक्ल यजुर्वेद में इस बात का उल्लेख है कि भारत के एक दूसरे भाग (पश्चिम) में यह प्रणाली प्रचलित है (१५. १२)। प्राची में जरासंध के वंशजों का राज्य था, इतिहास में जिसका उल्लेख उसके पूर्वज बृहद्रथ के नाम से है। महाभारत में कहा

साम्राज्य प्रणाली

है कि जरासंध ने सम्राट् का पद प्राप्त किया था। जरासंघ उस संघ संस्था का प्रधान या सम्राट् था और चेदि का राजा शिशुपाल उसका सर्वप्रधान सेनाध्यक्ष था। इस विवरण से हमें यह पता चलता है कि उस संघ में कई स्वतंत्र राज्य सम्मिलित थे। महाभारत के पहले पर्व में हमें यह लिखा मिलता है कि बहुत से राजा मिलकर स्वतंत्रतापूर्वक एक सम्राट् का निर्वाचन करते हैं और उसे उस पद पर अभिषिक्त करते हैं*। सभापर्व की और बातों से यह भी ध्वनि निकलती है कि राजाओं ने आत्मरक्षा के विचार से यह प्रथा चलाई थी†। पर जरासंध ने उसकी अवहेलना करके और राजाओं को दासत्व की स्थिति में कर दिया था।

इस व्याख्या को देखते हुए हम सहज में यह बात समझ सकते हैं कि विदेह सरीखे छोटे से राज्य के राजा जनक ने किस प्रकार सम्राट् पद प्राप्त किया था‡। कोई विशिष्ट और प्रधान व्यक्ति उस संघटन का नेता चुना जा सकता था। जान पड़ता है कि इस संघटन या संस्था के स्वरूप के कारण ही ऐतरेय ब्राह्मण ने इसे सार्वजनिक शासन-संस्थाओं की सूची में स्थान दिया था।

---

* सभापर्व, अ० १६।

† मिलाओ आदिपर्व, अ० १००. ७।

‡ देखो इस खंड के पृ० ४ की दूसरी पादटिप्पणी।

§ ३६४. बृहद्रथ के समय के बाद सार्वभौम प्रणाली का अच्छा प्रचार हुआ था*। ई० पू० ६०० के लगभग जब धीरे धीरे जातीय राज्यों का अंत होने लगा, तब इस प्रणाली ने रूप धारण करना आरंभ किया था (§२४७)। वैदिक काल से जो प्राचीन राजवंश चले आते थे, उनका धीरे-धीरे अंत होने लगा। दूसरी शताब्दी में बड़े-बड़े और अ-जातीय एकराज्यों का यथेष्ट विकास होने लगा। उस समय इस प्रकार के प्रायः तीन राज्य थे। इनमें से एक तो मगध था, जिसने उस समय तक उतनी प्रधानता नहीं प्राप्त की थी; दूसरा कोशल का और तीसरा अवंती का राज्य था†। आगे चलकर इन तीनों राज्यों में प्रतियोगिता होने लगी और अंत में नंद-वर्धन के समय में मगध पूर्ण विजयी हुआ‡। ई० पू० सन् ४५० के लगभग एक स्थायी सार्वभौम की स्थापना

एकराज साम्राज्य-वाद का परवर्त्ती इतिहास

---

* ई० पू० ७०० के लगभग। जायसवाल J. B. O. R. S. ४, पृ० २६।

† पहले वीतिहोत्रों के अधीन और तब प्रद्योतों के अधीन।

‡ जायसवाल J. B. O. R. S, १८७. १०७।

हुई। सौ वर्ष बाद मगध के शूद्र सम्राट् ने प्राचीन राजवंशों का नाम इतिहास के पृष्ठों पर से मिटा दिया (§ ३६२)। एक पंजाब को छोड़कर शेष समस्त उत्तरी भारत में एक-छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। हिंदू इतिहास-लेखकों ने इसे एक नए युग का आरंभ माना।

ईसा पूर्व ६००-४५० में लोगों में यह प्रश्न उत्पन्न होने लगा कि पुराने राजवंशों को क्यों जीवित रहने दिया जाय? दो स्थानों पर—एक तो अवंती में और दूसरे मगध में—सबसे पहले प्राचीन राजवंशों के अधिकार छीने गये। एक राजनीतिक विचारक ने इस संबंध का एक सिद्धांत ही बना डाला कि जो राजवंश दुर्बल और हीन हो गये हों, उनके राज्यों पर अधिकार कर लेना कर्त्तव्य है*। ऐसा

---

* मिलाओ कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र ५. ६. ९५, पृ० २५३-५४ में भारद्वाज का उद्धरण जिसका कौटिल्य ने खंडन किया है। कौटिल्य ने कहा है कि यह प्रणाली नीति-विरुद्ध है। इसमें वास्तव में केवल मंत्रियों का ही शासन होता है; और इसमें सबसे बड़ा भय प्रजा द्वारा दंडित होने का है।

भारद्वाज हृदयशून्य और उग्र लेखक था। उसका असली नाम कणिक था। महाभारत के अनुसार उसने

जान पड़ता है कि प्राचीन राजवंशों का आपसे आप अंत हो गया और वे अपने कर्त्तव्य-पथ से हट गए।

§ ३६५. इस प्रकार के हिंदू-साम्राज्यवाद को चक्रवर्ती प्रणाली भी कहते थे। इसके संबंध में कहा गया है कि

चक्रवर्ती

यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें साम्राज्य-चक्र अबाधित रूप से चल सकता है। इस विचार का मूल आधार भी वही सीमाजन्य है। पहले तो इसकी व्याख्या आ-समुद्र कहकर की जाती थी; पर अब इसकी नई व्याख्या में यह कहा जाने लगा कि जो राज्य कन्याकुमारी से काश्मीर तक हो, वह चक्रवर्ती राज्य है*। चक्रवर्ती राज्य का विचार लोगों में ई० पू० ५७० या कदाचित् इससे भी कुछ पहले से फैल रहा था। बुद्ध ने

पश्चिमी भारत के एक सौवीर राजा को राजनीति का उपदेश किया था। गोविंदराज ने रामायण अयो० का० १००. ३९ में उसकी नीति को "वक्र" कहा है।

* अर्थशास्त्र पृ० ३३८. देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रांतरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्त्ति-क्षेत्रम्। अर्थात्--"सारी भूमि या भारत देश है। उसमें हिमालय से समुद्र तक सीधे उत्तर-दक्षिण एक हजार योजन में चक्रवर्ती क्षेत्र है।"

जो अपने धार्मिक साम्राज्य का नामकरण "धर्मचक्र" किया था, वह राजनीतिक परिभाषा के अनुसार ही किया था। ई० पू० ६००-५०० में पूर्वी भारत के हिंदू यही कहते थे कि विजय करो, विजय करो, केवल विजय करो और उस विजय से एकता उत्पन्न करो। महात्मा बुद्ध उस समय अपने आपको चक्रवर्ती सम्राट् कहते थे; और जैन-धर्म के प्रवर्त्तक महावीर अपने आप को अपने समय का जिन या विजेता कहते थे। जिस प्रकार मुगल काल में धार्मिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में "बादशाही" कायम करने की धुन थी, उसी प्रकार उससे दो हजार वर्ष पहले भी लोग धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में विजय प्राप्त करके समस्त भारत में एकता स्थापित करने की ही चिंता करते थे।

इसमें केवल एकता की भावना ही ऐसी थी जिससे इतिहासकार सहमत हो सकते थे। इसके सिवा उस प्रणाली में और कोई ऐसा तत्त्व नहीं था जो देश के अनुभव को पसंद हो सकता। इस प्रणाली का उद्देश्य यही था कि विकट बल सम्पादित किया जाय; पर वह बल मादक द्रव्यों से उत्पन्न होनेवाले अस्थायी और कृत्रिम बल के समान था। अंत में उसका परिणाम यही हो सकता था कि सुस्ती और थकावट से आदमी गिर पड़े। यह प्रणाली कभी सर्वमान्य नहीं हुई थी। धर्मशास्त्र और राजनीतिक

विचारक लोग फिर उसी पुरानी संघात्मक और आधिपत्य प्रणाली के आदर्शों की प्रशंसा करने लगे। वे कहने लगे कि अलग अलग छोटे राज्यों को जीवित रहने का अधिकार है*।

§ ३६६. मगध साम्राज्य की एक बड़ी विशिष्टता यह थी कि उसमें समस्त अधिकार एक केंद्र में आकर स्थापित हो गया था। न्याय का कार्य राजा या राज्य के हाथ में चला गया था; और यहाँ तक कि कानून या धर्म भी उसी के हाथ में चला गया था†। गाँवों का शासन भी राजकीय अधिकारियों के हाथ में हो गया था। सब जहाज भी राज्य के ही होते थे और राज्य से ही लोगों को मिलते थे। केवल अच्छी बातें ही राजा के हाथ में नहीं आ गई थीं, बल्कि बुरी बातों पर भी राज्य का अधिकार या शासन हो गया था। वेश्याएँ एक राजकीय विभाग के अधीन कर दी गई थीं, द्यूत-क्रीड़ा

केंद्रीकरण

---

* विष्णु ३. ४७-५८। राजा परपुरावाप्तौ तु तत्र तत्कुलीनमभिषिञ्चेत्। न राजकुलमुच्छिन्द्यात्। साथ ही देखो मनु ७. २०२.

† अर्थशास्त्र पृ० १५०. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।

या तो सरकारी इमारतों में होती थी या उन इमारतों में होती थी, जिनके लिये सरकार से अधिकार-पत्र या लाइसेन्स मिलता था; और भोजनालय तथा मद्य की दूकानें भी राजकीय विभाग के अधीन हो गई थीं। खानों पर भी राज्य का पूरा पूरा अधिकार हो गया था; बल्कि यदि हम उस समय की भाषा में कहें, तो वे "एक-मुख" कर दी गई थीं। अर्थात् उनसे जो कुछ निकलता था, वह एक ही द्वार से बाहर निकलकर सर्वसाधारण तक पहुँचता था। इनमें से कुछ व्यवस्थाएँ तो लाभदायक थीं और कुछ हानिकारिणी थीं।

इस प्रकार का केंद्रीकरण हिंदू जाति की प्रकृति के विरुद्ध था। बुद्ध ने अपना साम्राज्य अवश्य स्थापित किया था, परंतु उस साम्राज्य में लोगों का स्वराज्य था; और इसी लिये वह साम्राज्य फला-फूला था। इसके विपरीत मगध के साम्राज्य में देश की आत्मा मानों साम्राज्य-सिंहासन के चारों ओर जकड़कर बाँध दी गई थी; और इसी लिये वह साम्राज्य सफल नहीं हुआ।

समझौते की साम्राज्य-प्रणाली

§ ३६७. इसके उपरांत जिस प्रणाली की परीक्षा या प्रयोग किया गया, वह मानों दोनों के बीच की समझौते की प्रणाली थी। गुप्त साम्राज्य में कुछ थोड़े से छोटे छोटे राज्य अधीनता में रहने दिए गए थे; पर न तो वह साम्राज्य शुद्ध संघात्मक प्रणाली का था और न वह निम्न

कोटि की आधिपत्य प्रणाली का ही था; बल्कि वास्तव में वह एक बहुत बड़ा एकराज राज्य था। वास्तविक संघात्मक प्रणाली वही हो सकती थी, जिसमें सब राज्यों के साथ समान व्यवहार होता; और अभी उस प्रणाली की स्थापना होने को बाकी थी।

§ ३६८. हमारे राष्ट्र-संघटन से संबंध रखनेवाली बातों के अध्ययन के लिये दूसरे* और तीसरे† साम्राज्य केवल बड़े बड़े एकराज राज्य ही हैं। शांति और युद्ध के भेद से समय समय पर उन साम्राज्यों की अधीनस्थ संस्थाओं का बल घटता-बढ़ता रहा होगा। युद्ध या आपत्ति-काल में वे संस्थाएँ कुछ दुर्बल हो गई होंगी और शांति काल में कुछ बलवान् हो गई होंगी। पर फिर भी सर्वप्रिय प्रणालियाँ उस समय भी प्रचलित ही थीं।

——

* गुप्तों के साम्राज्य।

† हर्ष, मौखरियों तथा औरों के साम्राज्य।

अड़तीसवाँ प्रकरण

हिंदू राज्यतंत्र का पुनः स्थापन

§ ३६६. ई० सन् ७०० के बाद का समय अंधकारमय है और उसमें हिंदू-राज्यतंत्र छिन्न-भिन्न हो गया था। उसकी सर्वप्रिय संस्थाओं का अंत हो गया था और हिंदुओं की परंपरा से आई हुई सब बातें मिटने लगी थीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसके कारणों का अनुसंधान अभी तक नहीं हो सका है।

§ ३७०. परंतु फिर जब शिवाजी और सिक्खों के समय में हिंदू राज्यतंत्र की पुनः स्थापना हुई, तब सिक्खों की नीति विफल हुई। उनकी विफलता का कारण यह था कि वे अपने देश की प्राचीन बातों के साथ अपना संबंध स्थापित न कर सके थे। जो प्रणाली उनके आस-पास चारों ओर प्रचलित थी, उसी का अनुकरण उन्होंने भी किया; और ऐसा शासन स्थापित किया जिसमें केवल एक ही व्यक्ति सब कुछ कर्त्ता-धर्त्ता होता था। गुरु

गोविंदसिंह ने यह दोष दूर करना चाहा था; पर उसका परिणाम यह हुआ कि किसी का शासन न रह गया और अराजकता सी फैल गई। वह विजय और पराजय, उत्थान और पतन सभी बातों में मुगल ढंग की "पादशाही" का सा था। परंतु मराठा देश के आंदोलन का इतिहास इससे कुछ भिन्न ही था। उन्होंने अपना संघटन अपना प्राचीन इतिहास देखकर किया था और ऐसे उपादानों पर अपने तंत्र की स्थापना की थी, जो उन्हें सहज में उपलब्ध हो सके थे, परंतु फिर भी जिनका भूत काल के साथ संबंध था। उन्होंने महाभारत और शुक्रनीति देखकर निश्चय किया था कि राजा को राज्य की व्यवस्था करनी चाहिए; कोरी हुकूमत नहीं चलानी चाहिए; और शासन-कार्य आठ मंत्रियों की परिषद् के हाथ में होना चाहिए। इसी लिये उन्होंने "अष्टप्रधान" की स्थापना की थी*। उन्होंने अपने देश के राजनीतिक साहित्य में से पारिभाषिक शब्द ढूँढ़ ढूँढ़कर एक राजकोष प्रस्तुत किया था। परंतु फिर

पतन के कारण

भी उन्होंने जिस प्रणाली का प्रयोग या परीक्षा की थी, वह हिंदू राज्यतंत्र का केवल एक अंग और अधूरी थी। उनके यहाँ परिषद्

---

* देखो इस खण्ड के पृ० २४० की पाद-टिप्पणी।

तो थी, परंतु पौरजानपद संस्था नहीं थी। पर इस बात के लिये उनका श्रेय अवश्य मानना चाहिए कि आधुनिक समय में सबसे पहले उन्हीं की समझ में यह बात आई थी कि हमारे पूर्वजों ने बुद्धिमत्तापूर्वक अनुभव करके यह स्थिर किया था कि एक व्यक्ति का शासन नहीं होना चाहिए और ऐसा शासन हमारे शास्त्रों के भावों के विरुद्ध है। उनमें त्रुटि यही थी कि अपने देश के राष्ट्र-संघटन संबंधी इतिहास से वे नितांत अपरिचित और अंधकार में थे; और वह अंधकार ऐसा था, जिसे हम तीन शताब्दियों के बाद भी पूरी तरह से दूर नहीं कर सके हैं।

——

उन्तालीसवाँ प्रकरण

उपसंहार

§ ३७१. यह उस राज्य-तंत्र का संक्षिप्त विवेचन है, वास्तव में बहुत ही संक्षिप्त विवेचन है, जो इतिहास में स्वतंत्रतापूर्वक कम से कम तीस शताब्दियों तक चला था*; और संसार के अब तक के जितने राज्यतंत्र ज्ञात हैं, उन सबकी अपेक्षा इसके प्रचलन का समय बहुत अधिक और

---

* कुछ ऐसे सिक्के भी पाए गए हैं जिन्हें हिंदू सिक्कों के परम सुयोग्य आलोचक सर एलेक्जेंडर कनिंघम ने प्रायः ईसा पूर्व १००० वर्ष का बतलाया है। पुराणों और खारवेल के शिलालेख (J. B. O. R. S. ३, पृ० ४३६-३७) से सूचित होता है कि महाभारत का समय ईसा पूर्व १४२५ था। ई० पू० ३१० में मेगास्थिनीज ने देखा था कि हिंदू लोग आरंभिक समय से चंद्रगुप्त के समय तक होनेवाले राजाओं की संख्या १५४ बतलाया करते थे।

विस्तृत है। संभव है कि बैबिलोन इसकी अपेक्षा कुछ और शताब्दियों तक जीवित रहता, पर अभाग्यवश अब उसका अस्तित्व ही नहीं रह गया है। इसके विपरीत भारत का अस्तित्व अभी तक बना है; और इस विषय में एक चीन का नागरिक राज्यतंत्र ही ऐसा है, जो भारत की बराबरी कर सकता है।

§ ३७२. किसी राज्यतंत्र की उपयोगिता और उपयुक्तता का प्रमाण यही है कि वह अधिक समय तक जीवित रहकर विकसित हो सके और मानव-जाति के कल्याण तथा संस्कृति के संवर्धन में सहायक हो। यदि इस दृष्टि से हिंदू-राज्यतंत्र की परीक्षा की जाय, तो वह बहुत ही सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होगा।

§ ३७३. हिंदुओं ने राष्ट्र-संघटन के क्षेत्र में जो उन्नति की थी, संभवतः उसकी बराबरी और कोई जाति नहीं कर सकी है; उससे अधिक उन्नति करके उससे आगे बढ़ जाना तो बहुत दूर की बात है। साथ ही हिंदुओं के संबंध में सब से बड़ी एक और बात यह है कि वे अभी तक नष्ट या मृत नहीं हुए हैं। वे कुछ ऐसे निश्चित विचारों और उद्देश्यों को अपने मन में लिए हुए अब तक जीवित हैं, जिन्हें देखते हुए एक बड़े इतिहासवेत्ता (डंकर) ने कहा है कि वे इतने दृढ़ और चिमड़े हैं कि झुक भले ही जायँ, पर टूट नहीं सकते। उनके राज्यतंत्र का स्वर्ण-युग

भूत काल के उदर में नहीं चला गया है, बल्कि अभी भविष्य के गर्भ में है। उसका आधुनिक इतिहास सत्रहवीं शताब्दी से आरंभ होता है, जब कि वैष्णव संप्रदाय ने सब मनुष्यों की समानता का उपदेश आरंभ किया था, जब कि प्राचीन भारत के अस्पृश्य शूद्र ने ब्राह्मण के कंधे से कंधा मिलाकर धर्मोपदेश किया था, (और उस ब्राह्मण ने भी उस शूद्र का स्वागत करते हुए उसे उत्साहित किया था), जब कि हिंदुओं के देवताओं का पहले-पहल एक मुसलमान द्वारा रची हुई कविताओं का पाठ करके पूजन होने लगा था*, जब कि रामदास ने इस बात की घोषणा की थी कि मनुष्य का शरीर स्वाधीन है और वह सहसा पराधीन नहीं हो सकता†, और जब कि एक-राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में ब्राह्मण ने शूद्र का नेतृत्व स्वीकृत किया था।

---

* तब से अब तक बराबर वैष्णवों के मंदिरों में संध्या समय रसखान के सवैए गाए जाते हैं। इसके साथ गालिब के उस विचार का मिलान होना चाहिए जिसमें उसने यह कामना प्रकट की है कि हिंदू लोग काबे में कब्रों में गाड़े जायँ और मुसलमानों की दाह-क्रिया काशी में हो।

† नरदेह हा स्वाधीन। सहसा न हे पराधीन॥ दास-बोध १. १०. २५।

§ २७४. हिंदुओं का सुधार-काल आ रहा है। पर साथ ही उससे अधिक प्रबल एक और शक्ति भी आ रही है। वह काफिरों का विचार या युरोपवालों का "मनुष्यत्व" है। यह एक अद्भुत संयोग है कि प्राचीन काल में जिस जाति ने राष्ट्र-संघटन संबंधी उच्चतम विचारों का विकास किया था, उस जाति का संबंध आधुनिक काल के राष्ट्र-संघटन संबंधी सबसे बड़े राज्यतंत्र के साथ हो रहा है। यह संबंध विद्युत् शक्ति उत्पन्न करनेवाला है। यह जाति के प्राण भी ले सकता है और उसमें नवीन जीवन का संचार भी कर सकता है*। जैसा कि इतिहासज्ञ ने

---

* जिस समय लोगों के मन में विजित या पराजित होने का विचार आता है, उस समय प्रायः लोग बहुत ही अविचार से काम लेते हैं और युक्ति अथवा तर्क से काम न लेकर बहुत ही हतोत्साह हो जाते हैं। पर "पराजय" केवल नवीन विचारों और नवीन जीवन ग्रहण करने का एक ढंग ही है। ऐसा कौन सा बड़ा आधुनिक समाज है, जो कभी पराजित न हुआ हो? यदि डेन और नार्मन लोग इँग्लैंड में जाकर विजय प्राप्त न करते, तो इँग्लैंड और भी बहुत दिनों तक अपनी उसी आरंभिक और असभ्य अवस्था में पड़ा रहता। यदि फ्रांस और आस्ट्रिया के निवासी जर्मनी

सोचा है*, संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि जाति में नवीन जीवन का संचार होगा; और हिंदू स्वभावतः इसी बात की आशा भी करेंगे।

§ २७५. राष्ट्र-संघटन संबंधी अथवा सामाजिक उन्नति का किसी एक विशिष्ट जाति ने कोई ठीका नहीं ले लिया

और इटली में जाकर अपना प्रभुत्व न स्थापित करते, तो यूरोप में उन देशों की भी वही अवस्था होती जो इस समय भारत में राजपूताने या काठियावाड़ की है। यदि मुसलमान लोग आकर भारत पर आक्रमण न करते, तो भारत की भी इस समय वही अवस्था होती जो स्याम, लंका या कोरिया की है।

* "इस (चिमड़ेपन) से उन्हों (हिंदुओं) ने अपना एक बहुमूल्य गुण बचा रखा है; और वह गुण उच्च मानसिक सफलताएँ प्राप्त करने की वह प्रवृत्ति है जो उनके समस्त इतिहास में बराबर पाई जाती है। सर्वोत्कृष्ट भारतवासियों के हृदय में उनके इस बहुमूल्य गुण का कोष अभी तक सजीव तथा सबल रूप में वर्त्तमान है; और इससे भी अधिक निश्चयपूर्वक यह जान पड़ता है कि आगे चलकर उनका भविष्य और भी अधिक उत्तम तथा प्रकाशमान होगा।" डंकर कृत History of Antiquity, (१८५२-५७.) खंड ४; प्रकरण १०।

है। और जातियाँ भी इस प्रकार की उन्नति कर सकती हैं। आज-कल कुछ ओछी बुद्धि के लोग यह कहा करते हैं कि कुछ जातियों में राजनीतिक महत्ता स्वाभाविक और जन्मसिद्ध हुआ करती है; पर हम ऐसी बातों पर विश्वास करनेवाले नहीं हैं। यह भी उसी प्रकार का निराधार और मिथ्या विश्वास है, जिस प्रकार का स्पेन के निवासियों का यह मिथ्या विश्वास है कि राजकुल तथा दूसरे उच्च कुलों के लोगों का रक्त नीला होता है। राजनीतिक और राष्ट्र-संघटन संबंधी विकास में नीले रक्त या इसी प्रकार के और किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। राजनीतिक और राष्ट्र-संघटन संबंधी उन्नति केवल परिस्थितियों और मानव शक्तियों से ही होती है। और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि राजकीय विषयों में उन्नति करने के लिये रक्त के नीले होने की ही आवश्यकता होती है, तो भी हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वह नीला रक्त हिंदुओं की रगों में वर्त्तमान है।

——

सोचा है*, संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि जाति में नवीन जीवन का संचार होगा; और हिंदू स्वभावतः इसी बात की आशा भी करेंगे।

§ ३७५. राष्ट्र-संघटन संबंधी अथवा सामाजिक उन्नति का किसी एक विशिष्ट जाति ने कोई ठीका नहीं ले लिया

और इटली में जाकर अपना प्रभुत्व न स्थापित करते, तो यूरोप में उन देशों की भी वही अवस्था होती जो इस समय भारत में राजपूताने या काठियावाड़ की है। यदि मुसलमान लोग आकर भारत पर आक्रमण न करते, तो भारत की भी इस समय वही अवस्था होती जो स्याम, लंका या कोरिया की है।

* "इस (चिमड़ेपन) से उन्हों (हिंदुओं) ने अपना एक बहुमूल्य गुण बचा रखा है; और वह गुण उच्च मानसिक सफलताएँ प्राप्त करने की वह प्रवृत्ति है जो उनके समस्त इतिहास में बराबर पाई जाती है। सर्वोत्कृष्ट भारतवासियों के हृदय में उनके इस बहुमूल्य गुण का कोष अभी तक सजीव तथा सबल रूप में वर्त्तमान है; और इससे भी अधिक निश्चयपूर्वक यह जान पड़ता है कि आगे चलकर उनका भविष्य और भी अधिक उत्तम तथा प्रकाशमान होगा।" डंकर कृत History of Antiquity, (१८५२-५७.) खंड ४; प्रकरण १०।

है। और जातियाँ भी इस प्रकार की उन्नति कर सकती हैं। आज-कल कुछ ओछी बुद्धि के लोग यह कहा करते हैं कि कुछ जातियों में राजनीतिक महत्ता स्वाभाविक और जन्मसिद्ध हुआ करती है; पर हम ऐसी बातों पर विश्वास करनेवाले नहीं हैं। यह भी उसी प्रकार का निराधार और मिथ्या विश्वास है, जिस प्रकार का स्पेन के निवासियों का यह मिथ्या विश्वास है कि राजकुल तथा दूसरे उच्च कुलों के लोगों का रक्त नीला होता है। राजनीतिक और राष्ट्र-संघटन संबंधी विकास में नीले रक्त या इसी प्रकार के और किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। राजनीतिक और राष्ट्र-संघटन संबंधी उन्नति केवल परिस्थितियों और मानव शक्तियों से ही होती है। और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि राजकीय विषयों में उन्नति करने के लिये रक्त के नीले होने की ही आवश्यकता होती है, तो भी हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वह नीला रक्त हिंदुओं की रगों में वर्त्तमान है।

——

परिशिष्ट (घ)

दूसरे खंड के अतिरिक्त नोट (१६२४)

पृ० १३२—श्रेष्ठी या नगर का प्रधान।

गुप्त काल में छोटे-छोटे प्रांतों की जो राजधानियाँ होती थीं (जिन्हें अधिष्ठान कहते थे), उनमें भी श्रेष्ठी हुआ करते थे। Epigraphia Indica १५. १३० में कोटि नामक नगर के नगर-श्रेष्ठी का उल्लेख है, जो नगर कुमारगुप्त के समय में बंगाल प्रांत में था। उसके नाम के पहले प्रतिष्ठासूचक "आर्य" शब्द दिया है (पृ० १४२); और वह जिले के शासन के प्रकरण में जिले के अधिकारी के साथ रखा गया है।

साथ ही मिलाओ र्‌हीस डेविड्स कृत Buddhist India पृ० ९६-९७, जिसमें "जेट्ठका" और "पमुखा" (ज्येष्ठक और प्रमुख) का उल्लेख है और जो नगर के प्रमुख या प्रधान थे। वहीं महासेट्ठी का भी उल्लेख है जो सब श्रेष्ठियों का प्रधान या शिल्पियों की श्रेणियों का प्रधान होता था।

पृ० २४१—प्रतिनिधि। क्या इस बात की भी संभावना है कि वह प्रजा का प्रतिनिधि होता था ?

पृ० २५४-५५—पौर-जानपद और मंत्रि-परिषद्।

गुप्त काल में जिलों का शासन और स्थानिक प्रतिनिधि—

गुप्त काल में जिलों के शासन की जो व्यवस्था थी, उससे इस विषय पर कुछ कुछ प्रकाश पड़ता है। बंगाल के दीनाजपुर जिले में दामोदरपुर के जो ताम्रलेख मिले थे (Epigraphia Indica १५. पृ० ११३-१४५.), उनसे प्रमाणित होता है कि जिले के प्रधान अधिकारी ने [जो उन दिनों विषयपति या विषय-आयुक्तक कहलाता था, और जो स्वयं सम्राट् द्वारा नियुक्त बंगाल प्रांत के (पुंड्रवर्धन भुक्ति) प्रधान शासक या गवर्नर (उपरिक) द्वारा नियुक्त हुआ था] नगर के प्रधान (नगर-श्रेष्ठी) व्यापारियों के प्रधान और बड़े (प्रथम) कुलिक, (नगर न्यायाधीश) और नगर के बड़े रजिस्ट्रार (प्रथम कायस्थ) के साथ मिलकर (संव्यवहरति) जमीन के बंदोबस्त किए थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक जिले की व्यवस्था में उस स्थान के निवासियों के प्रतिनिधि लोग सरकार द्वारा नियुक्त जिले के प्रधान अधिकारी के साथ मिलकर काम करते थे। इस बात का बहुत ही स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि जिले का शासनाधिकार (अधिष्ठानाधिकरण) राजकर्मचारी के साथ साथ पौर संस्था के सार्वजनिक

अधिकारियों के हाथ में भी होता था। उसमें लिखा है—नियुक्तककुमारामात्य। वेत्रवर्मणि अधिष्ठानाधिकरणम् च नगरश्रेष्ठि (इत्यादि) पुरोगे संव्यवहरति (पृ० १३३)

इसी प्रकार बहुत संभव है कि राज्य के शासन में भी इसी प्रथा की पुनरावृत्ति होती रही हो।

पृ० २००—महत्तराः।

देखो Indian Antiquary १०. २१३ और Epigraphia Indica १५, पृ० १३६ में महत्तरों का उल्लेख। दामोदरपुर के ताम्रलेख (Epigraphia Indica १५-३६) से सूचित होता है कि महत्तर और दूसरे अष्टकुल अधिकरण मिलकर जमीन का बंदोबस्त करते हैं और प्रांतीय शासक या गवर्नर को उसकी सूचना देते हैं। इसका उक्त ग्रंथ के पृ० १३३ के उस उल्लेख से मिलान करो जिससे सूचित होता है कि श्रेष्ठी, कुलिक और कायस्थ आदि जिले के सरकारी अधिकारी के साथ मिलकर यही काम करते हैं। वहाँ महत्तर प्रांत के किसी और भीतरी नगर से सूचना भेजता है।

——

शब्दानुक्रमणिका